3.2
VHP2
ाची संस्कृत ग्रन्थमाला १७७
नाटिका
ानूलाल शुक्ल शास्त्री
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७७

श्रीमद्विश्वनाथकविराजप्रणीता

चन्द्रकला-नाटिका

'प्रभावली' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री
एम. ए., साहित्याचार्य
मध्यप्रदेशशासन (साहित्य अकादमी) सम्मानित
आचार्य (प्रोफेसर) तथा अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संस्कृत अध्यापन एवं संशोध विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
शाजापुर (म. प्र.)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन; के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

177

****

THE

CHANDRAKALĀ-NĀTIKĀ

OF

VIŚVANĀTH KAVIRĀJA

Edited with the 'Prabhāvali' Hindī Commentary

By

Prof. BĀBŪ LĀL ŚUKLA, ŚĀSTRĪ

M. A., Sāhityāchārya.

Honoured by Madhya Pradesh
Government (Sahitya Academy)
Professor and Head of Department Postgraduate Teaching
and Research in Sanskrit, Government Postgraduate
College, SHAJAPUR (M. P.)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (INDIA)

प्रस्तावना

लोकप्रिय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के रचयिता होने के कारण विश्वनाथ कविराज संस्कृत के प्रायः सभी विद्वानों से सुपरिचित हैं। इन्हीं की एक कृति 'चन्द्रकला'-नाटिका भी है जिसका 'साहित्यदर्पण' में अनेक वार उल्लेख हुआ है। चन्द्रकला-नाटिका के अतिरिक्त विश्वनाथ कविराज की अन्य अनेक कृतियाँ भी थीं जो आज तक देखने में नहीं आयीं केवल इनकी अप्रकाशित काव्यप्रकाशटीका 'दर्पण' हस्तलेख के रूप में विद्यमान है जिसका निकट भविष्य में प्रकाशित हो जाना संभव नहीं दिखाई देता।

'चन्द्रकला'-नाटिका भी आज तक उपेक्षित सी थी जिसे अब हिन्दी व्याख्यानात्मक अनुवाद के साथ द्वितीय वार प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत नाटिका का अध्ययन विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व और विशेषतः उनके स्थितिकाल पर ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेखों के कारण महत्वपूर्ण सामग्री की प्राप्ति करवाता है। इन संकेतित घटनाओं का अनुशीलन तथा पूर्व-सामग्री का पुनरीक्षण भी इस प्रसंग में अनुपयुक्त न होगा जिसने विश्वनाथ कविराज के इस पक्ष (व्यक्तित्व एवं स्थितिकाल) को धीरे-धीरे प्रामाणिक सीमाओं में प्रविष्ट करवा कर निश्चय तक पहुँचाने में पर्याप्त सहकार किया है।

इधर विश्वनाथ कविराज से सम्बद्ध अभिलेख (एवं उल्लेखात्मक सामग्री) का—उनकी प्राप्ति के पश्चात्—भारत के विभिन्न प्रदेशों के अनेक संशोधक विद्वानों द्वारा समीक्षण किया गया है, जिससे अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं परन्तु इनके आधार पर समवेत एवं व्यवस्थित ऐसे प्रयास नहीं हुए जिनमें समग्र प्राप्य सामग्री का एक सुसंगत क्रम में उपयोग किया गया हो। अतएव चन्द्रकला-नाटिका के प्रस्तुत संस्करण के अवसर पर इन नवीन तथ्यों के प्रस्तुतीकरण की समयौचिती एवं उपयोगिता असंदिग्ध रूप से आवश्यक बन कर उपस्थित हो गयी है जिसे अग्रिम पृष्ठों में यथाशक्य प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास किया गया है जो विज्ञ पाठकों के लिये विचारणीय अवश्य बन पड़ा है।

विश्वनाथ कविराज

(वंशपरिचय एवं स्थितिकाल के ऐतिहासिक आधार)

'साहित्यदर्पण' के अनुशीलन से विश्वनाथ कविराज का जो परिचय मिलता है उससे इनके नाट्यकार, आलङ्कारिक आचार्य, सन्धिविग्रहिक और

अनेक भाषाओं के अधिकारी पण्डित का व्यक्तित्व एकत्र समाहित होकर स्पष्ट उभर आता है। इतना विस्तीर्ण-क्षेत्र विश्वनाथ कविराज को पैतृकदेन और पारिवारिक वातावरण से अनायास ही प्राप्त होना असंभव नहीं था क्योंकि इनके वंश के पूर्वपुरुष भी अपने समय के अप्रतिम पण्डित, कवि और आलङ्कारिक आचार्य होते रहे थे। इनके वृद्धप्रपितामह (या प्रपितामह) नारायण या नारायणदास थे जिनने त्रिकलिङ्गनरसिंहदेव की सभा में दिग्गज विद्वान् धर्मदत्त को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।[1] विश्वनाथ कविराज के पितामहानुज चण्डीदास[2] अलङ्कारशास्त्र के अधिकारी विद्वान् थे जिनने काव्यप्रकाश पर एक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी थी जिसका नाम है (काव्य-प्रकाश) दीपिका। इन नारायणदास के पुत्र का नाम 'उल्लासदास'[3] था जिसका विश्वनाथ कविराज ने काव्यप्रकाशदर्पण में उल्लेख किया हैं। इससे स्पष्ट है कि उल्लासदास के अनुज चण्डीदास थे। उल्लासदास के आत्मज थे चन्द्रशेखर महाकवि जो अपने समय के साहित्यशास्त्र के दिग्गज विद्वान् भी थे। इन्हीं के पुत्र थे विश्वनाथ कविराज जिनके शास्त्रीय शिक्षण का महत्व-पूर्ण भाग स्वयं इनके पिता द्वारा ही सम्पन्न करवाया गया था। चन्द्रशेखर महाकवि की दो रचनाओं का 'साहित्यदर्पण' में उल्लेख मिलता है। इनमें एक है 'भाषार्णव' नामक व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ और अन्य है 'पुष्पमाला' (नाटिका), परन्तु 'दर्पण' में ही चन्द्रशेखर महाकवि की पद्यरचनाओं के भी अनेक उद्धरण मिलते हैं जिससे इनके द्वारा और भी रचनाएँ लिखी

---

१. यदाहुः नरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः सहृदयगोष्ठीगरिष्ठकवि-पण्डितमुख्यास्मत्प्रपितामहा श्रीमन्नारायणपादाः' (काव्यप्रकाशदर्पण काव्य-प्रकाशदीपिका की भूमिका पृष्ठ २५—वाराणसी) तथा—'तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्ध-प्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्' (सा० दर्पण परि० ३। पृष्ठ ७८ बम्बई संस्करण)

२. 'चास्मत्पितामहानुज कविपण्डितमुख्य श्रीचण्डीदासपादैरुक्तम्' (सा० द० परि० ३) तथा—'अस्मत् पितामहानुज—श्रीचण्डीदासपादानान्तु खण्ड-रस नाम्ना' (सा० द० परि० ७।)

तथा—'इति कपिञ्जलकुलतिलकषड्दर्शनचक्रवर्ती महाकविचक्रचूडामणि-सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ श्रीचण्डीदास महोपाध्यायकृत काव्यप्रकाशदीपिकायां दश-मोल्लासः (D. C. of Skt Mss म० म० हरप्रसाद शास्त्री Vol Vi पृष्ठ ४१६)

३. 'गुरुषु त्रिकलिङ्गदेवेन्द्र-श्रीनरसिंहदेवस्य कविराज-उल्लासदासेष्वस्माकं ज्येष्ठतातेषु' (काव्यप्रकाशदर्पण Ms. पृष्ठ १४५)

गयी होंगी ऐसा प्रतीत है। चन्द्रशेखर महाकवि नरसिंहदेव की सभा में विद्यमान थे।

विश्वनाथ कविराज के पुत्र थे अनन्तदास। विश्वनाथ कविराज के पिता महानुज चण्डीदास के आत्मज थे कृष्णानन्द 'कवि' जो 'सहृदयानन्द' काव्य के रचयिता थे। विश्वनाथ कविराज ने सुप्रसिद्ध कपिञ्जल वंश[1] में जन्म लिया था और इनके कुल के अनेक सदस्य कुलपरम्परा से चले आने वाले पाण्डित्य के आधार पर कलिङ्गसाम्राज्य के दरबार में प्रतिष्ठित स्थान और सान्धिविग्रहिक के पद को सुशोभित करते चले आ रहे थे। विश्वनाथ कविराज ने बड़े आदर से कृष्णानन्द कवि के 'सहृदयानन्द' काव्य के पद्य 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत किये हैं।[2]

इस विवरणके आधार पर विश्वनाथ कविराज का वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है :—

नारायणदास
- उल्लासदास-कविराज
  - चन्द्रशेखर महाकवि
    - विश्वनाथ कविराज सान्धिविग्रहिक
      - अनन्तदास
- चन्डीदास-कविपण्डित
  - कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक
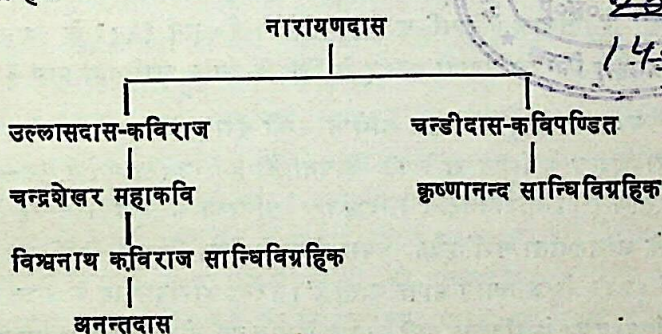
स्थितिकाल—(ऐतिहासिकप्रमाण तथा सङ्केत)

विश्वनाथ कविराज के स्थितिकाल के निश्चय हेतु अन्तरंग और बहिरंग सामग्री प्रचुर रूप में विद्यमान है जिसपर सावधानी से विचार और परीक्षण

---

१. विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदास ने भी अपने कपिञ्जल कुल का परिचय साहित्यदर्पण की लोचन व्याख्या में दिया है यथा :—

"आसीत् कपिञ्जलकुलक्षीराकूपारचन्द्रमाः।
त्रिकलिङ्गाधिपधरा-धामधीसचिवः कृती॥

अशेषभाषारमणीभुजङ्गः साहित्यविद्यार्णवकर्णधारः।
ध्वन्यध्वनि प्रौढधियां पुरोगः श्रीविश्वनाथः कविचक्रवर्ती॥

(सा० द० लोचन टीका पृष्ठ १ लाहौर संस्करण)

२. द्रष्टव्य–सा० दर्प० परि० ८। 'सूचीमुखेन सकृदेव' इत्यादि पद्य

अपेक्षित है। अतएव अब (क्रमशः) उसी पर विचार करने के लिये सर्वप्रथम कपिञ्जल कुल के प्रधान पुरुष नारायण से आरम्भ किया जारहा है। पिछले विवरणों से यह तो स्पष्ट रूप में ज्ञात हो जाता है कि नारायणदास त्रिकलिङ्ग देवेन्द्र नरसिंहदेव के सभापण्डित थे। इस तथ्य को विश्वनाथ-कविराज और इनके पितामहानुज चण्डीदास ने अपनी रचनाओं में कई बार बतलाया किन्तु उड़ीसा के शासकों में अनेक नरसिंहदेव हुए हैं और उनकी अनेक प्रशस्तियाँ और अभिलेख प्राप्त होते हैं।

इनमें प्रथम नरसिंहदेव थे 'लाङ्गुला' नरसिंहदेव[1] जिनने उड़ीसा में गजपति-साम्राज्य को स्थिर किया और अनेक शत्रुभूपालों को युद्ध में पराजित कर कोणार्क में सूर्यमन्दिर का निर्माण करवाया। संभवतः अनेक लोकोत्तर पौरुष के कारण ही इनकी 'लाङ्गुलानरसिंह' के रूप में ख्याति फैल गयी थी जिसका विस्तार से गङ्गचरितवंशानुचरितचम्पू में वर्णन प्राप्त होता[2] है। इनका स्थितिकाल ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा ई० सन् १२५३ के आस-पास माना है। ये परम प्रतापी सम्राट् थे जिनकी पर्याप्त प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं।

म० म० पाण्डुरंग वामन काणे ने इन्हीं नरसिंहदेव प्रथम के दरबार में नारायणदास के स्थित रहने की कल्पना की है। उनका मत है कि—'यदि नारायण (या नारायणदास) विश्वनाथ कविराज के वृद्ध पितामह थे तो उनके आश्रयदाता नरसिंहदेव प्रथम होना चाहिए जिनका स्थितिकाल ई० सन् १२५३ के आसपास माना जाता है'। परन्तु नारायणदास के आश्रयदाता नरसिंहदेव का स्थितिकाल इसी कल्पना से स्पष्ट नहीं होता क्योंकि नारायणदास

---

१. द्रष्टव्यः—तस्मादासीन्नृसिंहो नृपतिरतिकृती कोपनो यत्र दुष्टे
स्पष्टं लाङ्गूलमाविर्भवति स च ततो नाम तत्पूर्णमाप।
यस्यारीणां चरोक्तेर्महमभि सरुषो गाढमापीडयमानं
मुष्टिद्वन्द्वं न्यमज्जयत् किल भुजवलिनोट्टङ्कितं राजपट्टे।

तथा—

कोणार्कक्षेत्रपृष्ठे विपुलतमपृथूच्छायमुत्साहशाली
सौरं प्रसादमेकं व्यरचयदचिरान्नारसिंहोऽवतारः।

(वासुदेवसोमयाजी–गंग० वंशा० चम्पू)

२. विस्तार के लिए देखिये म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी की साहित्यदर्पण भूमिका पृष्ठ ६० [वम्बई संस्करण] तथा म० म० पाण्डुरंग वामन काणे कृत सा० द० की भूमिका और History of Skt, Poetics. पृष्ठ २८५ से पृष्ठ २८७

के पौत्र चन्द्रशेखर महाकवि ने अपने आश्रयदाता नरसिंहदेव के पिता भानुदेव नृपति की प्रशस्ति में स्पष्टतः यह बतलाया है कि भानुदेव नृपति की महारानी उमादेवी थी ।[1] इससे जो सङ्केत मिलता है वह यही बतलाता है कि चन्द्रशेखर महाकवि के पिता और पितामह नारायणदास इन्हीं भानुदेव के पिता नरसिंहदेव के दरबार में रहे होंगे ।

सर्वप्रथम इस पद्य के ऐतिहासिक सूत्र को म० म० चक्रवर्ती[2] ने अपने विचारक्षेत्र में लिया और यह निश्चय किया कि चन्द्रशेखर महाकवि की प्रशस्ति के लक्ष्य भानुदेव द्वितीय हैं। (परन्तु उस समय ऐतिहासिक प्रमाण के उपलब्ध न होने के कारण किसी भानुदेव नृपति का उमादेवी महारानी के साथ गजपति साम्राज्य में विद्यमान रहना प्रमाणित नहीं हो पाया था कि वे कौन भानुदेव नृपति रहे होंगे।) इसलिए उन्होंने भानुदेव द्वितीय को ही (प्रमाणों के विशिष्ट आधारों के बिना ही) काल्पनिक संगति बैठाते हुए निश्चित कर दिया। इसी कल्पना को डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने अन्य बहिरङ्ग प्रमाण प्रस्तुत करते हुए समर्थन दे डाला। उनके मत में एकावली नामक अलङ्कारशास्त्र ग्रन्थ के रचयिता विद्याधर ने नरसिंहदेव को 'कविकुमुदव्यूहनक्षत्रनाथः' बतलाया। जिससे स्पष्ट है कि नरसिंहदेव 'कवि एवं पंडितों के आश्रयदाता और प्रेमी थे। (परन्तु इन्हीं नरसिंहदेव के दरबार में चन्द्रशेखरकवि थे यह इनके तर्क से सम्बद्ध कैसे माना जाए।) इनके मत में— 'नरसिंहदेव के पिता भानुदेव नृपति की ही चन्द्रशेखर महाकवि ने प्रशस्ति लिखी है जिसे साहित्यदर्पण में उद्धृत किया गया। इस प्रकार अनुमान के आधार पर–'चन्द्रशेखर महाकवि के वर्ण्य भानुदेव द्वितीय ही थे जिनकी महारानी उमादेवी रही होगी', ऐसा मान कर समस्या को निपटा लिया गया।

इधर कुछ वर्ष पूर्व सौभाग्य से भुवनेश्वर (कटक) में लिङ्गराजमन्दिर से लगे हुए पार्वतीमन्दिर में एक शिलालेख ढूंढ़ निकाला गया जिसने उपर्युक्त विद्वानों के काल्पनिक प्रासाद को धराशायी कर दिया। बात यह थी कि उक्त शिलालेख पर पार्वतीमन्दिर के निर्माणार्थ द्रव्य प्रदान करने वाले महाराज

१. द्रष्टव्य–'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयँस्तेजसा' इत्यादि पद्य। (सा० द० पृष्ठ ६२ बम्बई संस्करण)

२. द्रष्टव्य––म०म० चक्रवर्ती Journal of Asiatic Society Bombay 1903 पृष्ठ १४६, तथा श्री करुणाकर कर की सा० दर्प० भूमिका भी। (लाहौर १९३८ संस्करण)

भानुदेव तथा महारानी उमादेवी का नाम उत्कीर्ण था।[१] शिलालेख के अनुशीलन से निश्चय हुआ कि ये भानुदेव तृतीय ही थे जिनकी महारानी का नाम उमादेवी था तथा जो निश्शङ्क भानुदेव चतुर्थ के पितामह थे। (ऐतिहासिक विद्वान् भानुदेव तृतीय का राज्यकाल ई० सन् १३५३ से १३७७ ई० तक मानते हैं)

इसके वाद इस तथ्य की पुष्टि एक अन्य शिलालेख के प्राप्त होने से पुनः हो गयी। यह दूसरा शिलालेख विशाखापत्तन जिले के 'सिंहाचलं' मन्दिर पर उत्कीर्ण था।[२] इस शिलालेख में महारानी केवल उमादेवी का ही नाम उत्कीर्ण था। इस शिलालेख का लेखन-काल शाके १३०१ (या ईसवी सन् १३७९) दिया गया था। इस समय भानुदेव तृतीय के पुत्र नरसिंहदेव का राज्य था तथा भानुदेव तृतीय का देहावसान हो जाने से महारानी उमादेवी विधवा हो चुकीं थीं जिनने धर्मलाभ के लिए सिंहाचलं मन्दिर के निर्माणार्थ अर्थ प्रदान किया था। अतः भानुदेव तृतीय के पुत्र नरसिंहदेव चतुर्थ के ही राज्यकाल में विश्वनाथ कविराज के पिता चन्द्रशेखर महाकवि विद्यमान थे जिनने अपने आश्रयदाता नरसिंहदेव चतुर्थ के पूज्य पिता भानुदेव को तृतीय की प्रशस्ति लिखी थी। अतः चन्द्रशेखर कवि के पितामह नारायणदास और पिता उल्लासदास को जिन नरसिंहदेव की सभा में विद्यमान रहना बतलाया गया है वे नरसिंहदेव तृतीय थे जिनके पुत्र भानुदेव की सभा में सम्भवतः उल्लासदास विद्यमान रहे।

चन्द्रशेखर कवि के नरसिंहदेव चतुर्थ के समय विद्यमान होने के पक्ष में एक अन्य ऐतिहासिक प्रमाण भी है। यह पूर्व में वतलाया जा चुका है कि जिन कृष्णानन्द कवि ने 'सहृदयानन्द' काव्य की रचना की थी वे विश्वनाथ कविराज के पितामहानुज चण्डीदास के आत्मज थे। ये कृष्णानन्द कवि भी नरसिंहदेव चतुर्थ के दरवार में विद्यमान थे और विश्वनाथ कविराज के वंशज होने से सान्धिविग्रहिक जैसे महत्वपूर्ण राजकीय पद पर आसीन भी थे।

नरसिंहदेव चतुर्थ के ही दरवार में कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक थे इस तथ्य का आधार नरसिंहदेव चतुर्थ का वह ताम्रपट्ट[३], जिसका लेखन-काल

---

१. इस शिलालेख का प्रकाशन Orissa Historical Research Journal Vol III पृष्ठ १४६ पर हुआ है।

२. द्रष्टव्य South Indian Inscriptions Vol VI Nn. 730

३. इस ताम्रपट्ट का प्रथम प्रकाशन J. A. S. B. Vol LXIV पृष्ठ १२८ पर हुआ था। तथा इसका D. C. सरकार द्वारा Epi. India में Vol. XXVI

यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न माना है परन्तु मध्यमार्ग द्वारा उसे ई० सन् १३९६ का माना जाए तो भी अनुचित न होगा। इस ताम्रपट्ट के लेखन-काल के समय विद्यमान राजकीय अधिकारियों में महापात्र कृष्णानन्द सान्धि-विग्रहिक भी विद्यमान थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज के जनक चन्द्रशेखर महाकवि नरसिंहदेव चतुर्थ की सभा में विद्यमान थे और कृष्णा-नन्द कवि के समसामयिक भी। यह भी सम्भव है कि दोनों की अवस्थाओं में अधिक अन्तर न रहा हो। कृष्णानन्द कवि ने भी चन्द्रशेखर कवि की सामयिक काव्यशैली में ही अपने समसामयिक आश्रयदाता नरसिंहदेव चतुर्थ का सहृदयानन्द काव्य के उपसंहारात्मक पद्य में व्यञ्जना द्वारा (इस प्रकार) वर्णन किया है।

लक्ष्मीः यावदलङ्करोति हृदयं विष्णोर्नृसिंहाकृतेः
यावद्विष्णुपदी च धूर्जटिजटाजूटान्तरे क्रीडति।
कृष्णानन्दकवेः कपिञ्जलकुलक्षीरोदशीतद्युतेः
तावत् काव्यमिदं तनोतु कृतिनामन्तःप्रमोदोदयम्॥
(सहृ० काव्य। काव्यमाला। पृष्ठ. ७४)

(इस प्रकार) जब कृष्णानन्द कवि विश्वनाथ-कविराज के पितृव्य थे तो अतिनिकटवर्ती और स्ववंशज होने के कारण उनके तत्कालीन लोकप्रिय काव्य 'सहृदयानन्द' से 'साहित्यदर्पण' में उपयुक्त उद्धरण लिया गया। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ कविराज ने अपने समसामयिक एवं आश्रयदाता निश्शङ्क भानुदेव चतुर्थ के पिता नरसिंहदेव चतुर्थ की प्रशस्ति में 'साहित्यदर्पण' के उपरान्त 'नरसिंहविजय' काव्य की रचना भी की थी, जिसका विश्वनाथ कविराज के आत्मज अनन्तदास ने अपने पिता की कृति के रूप में 'दर्पण' की स्वनिर्मित 'लोचना टीका' में स्पष्टरूप से उल्लेख किया है तथा इससे उद्धरण भी दिया है।

पृष्ठ ३०३ पर पुनः सम्पादन किया गया। श्री सरकार के मत में उक्त ताम्रपट्ट का लेखनकाल १३९६ ई० है जो नरसिंहदेव चतुर्थ के समय किया गया था। इस विषय में S. Indian Ins. Vol. VII. No. 1016 का भी अवलोकन आवश्यक है।

१. द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण-लोचनव्याख्या पृष्ठ ९ (लाहौर संस्करण) पर अनन्तदास का निम्न उद्धरण-यथा मम तातपादानां विजयनृसिंहे-'निःश्वासोद्धात-वातप्रसरधुतकुलाहार्यमुद्घृष्टदंष्ट्रा - जातज्योतिः स्फुलिङ्गप्रकरविरचितोल्कानि कायाभिशङ्का' इत्यादि।

विश्वनाथ कविराज ने अपनी चन्द्रकला-नाटिका की प्रस्तावना[१] में बड़े सम्मान से अपने आश्रयदाता निश्शङ्कभानुदेव की विजययात्रा और उसके पश्चात् मनाए जाने वाले विजयोत्सव का प्रभावशाली शैली[२] में वर्णन दिया है। निश्शङ्क भानुदेव के विजयोत्सव के उपलक्ष में समागत नरपतिमण्डल के मनोरंजनार्थ ही चन्द्रकला-नाटिका का अभिनय प्रस्तुत किया गया था। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रकला का लेखन इसी विजयोत्सव के तुरन्त बाद ही किया गया होगा।

निश्शङ्क भानुदेव चतुर्थका राज्याधिरोहण ई० सन् २४१३ में हुआ था तथा कलिङ्ग देश पर इनका शासन ई० सन् १४१३ से ई० सन् १४३५, तक बना रहा। निश्शङ्क भानुदेव ने अपने पुरुषार्थ एवं पराक्रम से चोल, कोसल, गौड़ (बंगाल) आदि देशों पर विजयपताका फहरा कर स्थायी एवं शक्तिशाली गजपति साम्राज्य की धाक एवं प्रतिष्ठा बनाए रखी। निश्शङ्क भानुदेव के द्वारा की गयी विजय में गौडदेशपर विजय पाना अतिशय महत्व रखता है।

अब इस गौड-विजय के स्वरूप एवं इसके उपयुक्त समय पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि निश्शङ्क भानुदेव ने जिस गौडशासक पर विजय प्राप्त की थी वह यवन था। (विश्वनाथ ने चन्द्रकला की प्रस्तावना में गौडदेश के शासकपर निश्शङ्कभानुदेव के विषयोल्लेख का प्रसङ्ग दिखलाते हुए वहाँ के शासक को यवन बतलाया है) अब प्रश्न यह उठता है कि बंगाल का यह कौन यवन शासक था जिसे निश्शङ्क भानुदेव ने पराजित किया।

बंगदेशीय इतिहास के परिशीलन से ज्ञात होता है कि वहाँ इलयास शाही वंशके अन्तिमशाहकी मृत्यु हिजरी सन् ८१७ या ई० सन् १४१४ में हुई थी। इस समय तक बंगाल के शासक सुलतान थे और पुनः यही शासनक्रम ८४६ हिजरी (ई० सन् १४४६) से स्थापित हुआ था। इन के मध्यवर्ती २९ वर्षों में बंगाल पर यवनराज नहीं रहा और राजा गणेश तब सर्वप्रथम बंगाल के हिन्दू शासक बने। इन्हीं राजा गणेश के पुत्र ने कुछही सयय बाद अपने पिता का स्थान ग्रहण किया और इस्लामधर्म स्वीकार कर अपना नाम जलालुद्दीन रखा। जलालुद्दीन की तख्तनशीनी ई० सन् १४१४ में हुई थी। कलिङ्ग का पड़ोसी राज्य होने के कारण इसका सदा उससे शत्रुभाव विद्यमान था। ऐसे शक्तिशाली राज्य के साथ ज्योंही निश्शङ्कभानुदेव चतुर्थ को राज्य-

---

१. द्रष्टव्य—चन्द्रकला नाटिका (प्रस्तावना पृष्ठ २ पर)
अयमिदानीं यवनपुरपुरन्ध्री…… श्रीमान् निश्शङ्कभानुदेवः इत्यादि।

२. द्रष्टव्य—चन्द्रकला-नाटिका अङ्क १ पद्य २।

प्राप्ति हुई तो तुरन्त अपने पराक्रम को सार्थक करने के लिये उसने गौड-देश पर विजय प्राप्त कर सदा से चले आ रहे कण्टक का शोधन कर डाला। भानुदेव के द्वारा गौड देश की यह विजय ई० सन् १४१४ के वाद ही किसी समय की गयी होगी और यह पराजित सुलतान जलालुद्दीन ही था।

अन्य विद्वानों के [1]मतानुसार वंगाल के शाह गयासुद्दीन को निश्शङ्कभानुदेव ने पराजित किया था परन्तु एक तो गयासुद्दीन निश्शङ्कभानुदेव चतुर्थ का समकालीन सुलतान ही नहीं था तो फिर उस पर विजय करने की कल्पना अनैतिहासिक सी लगती है।

निश्शङ्कभानुदेव के द्वारा की गई इस गौडदेश की विजय के उपलक्ष में मनाये जाने वाले समारोह में त्रिकलिङ्ग शासक के अनेक सहायक भूपालगण, मित्र, राजकीय अधिकारीगण और प्रजाजन ने भाग लिया होगा। इस महोत्सव को और अधिक मनोरंजक वनाने के लिए समाज में अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किय गये होंगे। विश्वनाथ कविराज की प्रस्तुत नाटिका चन्द्रकला का भी इस अवसर पर अभिनय प्रस्तुत किया गया जिसकी प्रस्तावना में अपने समय में की गयी निश्शंकभानुदेव की (यवन शासक पर) विजय का वड़ा प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादन किया गया है। अतः ऐसा लगता है कि इस नाटिका की रचना ही विश्वनाथ कविराज ने विजयोत्सव के मनोरंजन-कार्यक्रम हेतु की थी।

इस घटना को ई० सन् १४१४ के वाद कहीं घटित मानते हुए इसी के आधार पर विश्वनाथ कविराज का स्थितिकाल सहज ही निश्चित करना होगा। विश्वनाथ कविराज चन्द्रकला की प्रस्तावना में स्वयं को गजपति साम्राज्य के सान्धिविग्रहिक बतलाते हैं। सान्धिविग्रहिक पद राज्याधिकारी का विशेषपद है जिस पर विश्वनाथ के पूर्ववर्त्ती पुरुष श्रीधर, राघवानन्द, कृष्णानन्द, गोपीनाथ आदि भी आसीन थे। इनमें श्रीधर और चण्डीदास ने काव्यप्रकाश पर टीकाएँ भी लिखी थीं। राजतरङ्गिणी में भी ऐसी उपाधि और राजकीय सम्मान का विवरण प्राप्त है। यह उपाधि सन्धि और विग्रह के सम्पादन करने वाले राजकीय अधिकारीगण या उसी राजकीय विभाग के ऐसे नियुक्त अधिकारीगण को दी जाती थी जहाँ सन्धि आदि महत्वपूर्ण कार्य[2]

---

१. द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण की भूमिका (लाहौर संस्करण १९३८) पृष्ठ १६ जहाँ श्री करुणाकर ने विस्तार से इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है।

२. सान्धिविग्रहिकः सन्धिविग्रहाधिकृतः। 'तत्र नियुक्तः' (अ० ४।४।६९) इतिठक्।

का विनिश्चय किया जाता हो। ऐसे अधिकारीगण विद्याप्रणयी कलिङ्गराज्य में प्रतिष्ठित होकर अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए राज्यव्यवस्था का संचालन किया करते होंगे यह निर्विवाद है। ये अधिकारीगण कलिङ्गराज्य की सत्ता रहने तक बराबर विद्यमान रहे और जैसे ही कलिङ्गपर कपिलेश्वर देव का राज्य ई० सन् १४४० के लगभग स्थापित हुआ यह व्यवस्था भंग हो गयी।[1] इसी कारण कपिञ्जल कुल में उत्पन्न विश्वनाथ कविराज के आत्मज अनन्तदास को योग्य होने पर भी सम्भवतः सान्धिविग्रहिक जैसा गौरवशाली पद और राजकीय प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो पायी जिससे अनन्तदास का १४४० ई० के उपरान्त विद्यमान होना स्थिर होता है और विश्वनाथ कविराज का स्थितिकाल स्पष्टतः ई० सन् १४०० से १४४० तक निश्चितरूप से माना जा सकता है।

इस सन्दर्भ में कुछ अन्य उल्लेख एवं प्रमाणों पर भी पुनः विचार करना चाहिए। म० म० काणे ने डॉ० स्टीन के द्वारा संगृहीत जम्मू-काश्मीर के शासकीय हस्तलिखित पुस्तकालय में विद्यमान एक 'साहित्यदर्पण' की प्रति का उल्लेख किया है जिसका लेखन वर्ष १४४१ है। डॉ० स्टीन और म० म० पाण्डुरंग वामन काणे ने इसका अर्थ विक्रम संवत् लेकर विश्वनाथ कविराज का ई० सन् १३८४ के पूर्व समय निश्चित कर डाला। यही विचार श्री म० म० हरप्रसादशास्त्री ने भी प्रस्तुत किया था। उक्त प्रति को ध्यान से देखने पर शकाब्द ही निश्चित हुआ जिसका उक्त विद्वानों ने विक्रम संवत् अर्थ निकाला था। यह ध्यान देने की बात है कि बंगाल तथा उडीसा में सदा शकाब्द का प्रचलन रहा था जो आज तक चल रहा है। इसके अतिरिक्त गजपतिसाम्राज्य के अभिलेख एवं ताम्रलेख आदि पर भी शकाब्द ही उल्लिखित मिलता है। इन कारणों पर ध्यान देने से निश्चय होता है कि उडीसा से प्रतिलिपि करने के पश्चात् ही साहित्यदर्पण की प्रतियाँ भारत के भूभाग में फैली होंगी। जब 'साहित्यदर्पण' का लेखन-काल ही ई० सन् १४२८–३० के लगभग हुआ तो उसकी प्रति १३८४ ई० में कैसे प्राप्त होगी। अतः उक्तप्रति का लेखन-काल शाके १४४१ (अर्थात् ई० सन् १५३९) है जो निश्चित ही हमारे द्वारा निर्धारित विश्वनाथ कविराज के स्थितिकाल के समीप होकर नवीन मत में भी सहायक ही है।

इसके अतिरिक्त दूसरा तर्क ये ही विद्वान् इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि म० म० कोलाचल मल्लिनाथ सूरि के आत्मज कुमारस्वामी ने विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' ग्रन्थ की टीका 'रत्नापण' में 'साहित्यदर्पण' का स्पष्ट उल्लेख किया है।

१. द्रष्टव्य—Orrisa His. Research Journal Vol. V. No. 3, 4 पृष्ठ ९८–१०४।

यथाः—

'सम्मोहनन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः' इत्यादि साहित्यदर्पणे।

(प्रता०, रत्नापण, रसप्रकरण)

तथा—'मोहो विचित्तता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः।

घूर्णनागात्रपतन-भ्रमणादर्शनादिकृत्।' इति साहित्यदर्पणे।

प्रता, रत्ना०, रसप्रकरण)

मल्लिनाथ एवं इनके पुत्र कुमारस्वामी का स्थितिकाल १५ वीं शती माना जाता है। मल्लिनाथसूरि विजयनगर के महाराज प्रताप प्रौढ़देवराय के समय विद्यमान थे। विजयनगर के सम्राट् प्रौढदेवराय (द्वितीय) का स्थितिकाल १४२२ ई० से १४६६ तक माना जाता है। प्रौढ देवराज के पुत्र मल्लिकार्जुन थे जिनके दरबार में कुमारस्वामी विद्यमान थे। ऐतिहासिक प्रमाणों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि मल्लिार्जुन का राज्याधिरोहण ई० सन् १४४७ में हुआ था। अतः समीपवर्ती प्रदेश उत्कल में निर्मित 'साहित्यदर्पण' का अपने निर्माण के १५ वर्ष बाद विजयनगर में पहुँच जाना स्वाभाविक है (तथा यह प्रमाण भी 'साहित्यदर्पण' के ई० सन् १४३० के आसपास लेखनकाल का विरोधी नहीं।)

इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणों तथा अन्य बहिः साक्ष्य और अन्तःसाक्ष्य द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर निश्चय हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज का स्थितिकाल ई० सन् पन्द्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध (अर्थात् ई० १४०० से १४४०) निर्भ्रान्त रूप से माना जाना उचित है।

रचनाओं का लेखनक्रम

विश्वनाथ कविराज प्रौढ़ प्राण्डित्य एवं कविभाव समन्वित व्यक्तित्व लिये हुए थे और विविध भाषाविद् भी। इनकी 'साहित्यदर्पण' ऐसी महत्व-पूर्ण एवं प्रसिद्ध रचना है जिससे इनकी अन्य स्वनिर्मित कृतियों का नाम आदि का बोध तो होता ही है साथ ही अनेक महत्वपूर्ण अन्य अप्रसिद्ध कृतियों का भी पता चलता है। 'साहित्यदर्पण' को मध्यबिन्दु मान कर यदि विचार किया जाए तो इनकी रचनाएँ दो विभागों में विभाजित की जा सकती हैं। एक-'साहित्यदर्पण' के पूर्व निर्मित रचनाएँ और दूसरी होंगी 'साहित्यदर्पण' के अनन्तर निर्मित रचनाएँ।

पूर्व निर्मित रचनाओं में चन्द्रकला (नाटिका) प्रभावती-परिणय (नाटिका), कुवलयाश्वचरित (प्राकृतकाव्य), प्रशस्तिरत्नावली (करम्भक-

षोडशभाषामयी कृति), राघवविलास (महाकाव्य) तथा कंसवध (काव्य) हैं। ये छः रचनाएँ 'साहित्यदर्पण के पूर्व ही विश्वनाथ कविराज द्वारा लिखी जा चुकी थीं जिनका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने ही इनसे उदाहरण आदि रखते हुए अपने साहित्यदर्पण में किया है।

'साहित्यदर्पण' के पश्चात् इनके द्वारा मम्मटभट्ट के काव्यप्रकाश पर 'दर्पण' टीका का निर्माण हुआ। इस (व्याख्या) में ग्रन्थकार ने ही अपने 'साहित्यदर्पण' की बार-बार चर्चा की है। अतः यह स्पष्ट है कि 'दर्पण' के पश्चात् एक अन्य 'दर्पण' का भी कविराजद्वारा प्रणयन हुआ। विश्वनाथ कविराज की 'काव्यप्रकाश' पर निर्मित यह व्याख्या अभी तक पूर्णरूप में अप्रकाशित है।

'काव्यप्रकाश' दर्पण के अतिरिक्त विश्वनाथ कविराज ने 'विजय-नरसिंह' या 'नरसिंहविजय' काव्य की भी रचना की थी जो सम्भवतः अपने आश्रय-दाता नरसिंहदेव चतुर्थ की प्रशस्ति में लिखी गयी होगी। ('नरसिंहविजय-काव्य' का उल्लेख अनन्तदास ने 'साहित्यदर्पण' कीं लोचना व्याख्या में किया है तथा उससे एक उद्धरण भी दिया है जिसे बतलाया जा चुका है।

'चन्द्रकला' नाटिका के अध्ययन से स्पष्टतः विदित हो जाता है कि इसके प्रस्तावना में विश्वनाथ कविराज के द्वारा स्वयं का जो परिचय दिया गया उसमें केवल साहित्यशास्त्र के अध्ययन तथा नाटयशास्त्र की गम्भीर विद्वत्ता का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इस समय तक विश्वनाथ कविराज राजकीय कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान तो प्राप्त कर चुके थे किन्तु अपने अप्रति-भट पाण्डित्य के प्रस्थापन करने की स्थिति में नहीं आये थे। अतः 'चन्द्रकला' को प्राथमिक रचनाओं में मान लिया जाकर आगे की रचनाओं पर विचार किया जाना उचित है। इनकी सम्प्रति अन्य रचनाओं की उपलब्धि नहीं हो पायी है और ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है कि विश्वनाथ कविराज की रचनाओं में 'चन्द्रकला' से प्रभूत उद्धरण 'साहित्यदर्पण' में लिये गये हैं। अतएव 'चन्द्रकला' से इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में मध्यवर्ति स्थान देना उचित होगा। ('चन्द्रकला' नाटिका की समीक्षा आगे की गयी है) चन्द्र-कला' के बाद ही कविराज ने अन्य रचनाओं के लेखन के साथ ही अपनी प्रख्यात रचना 'साहित्यदर्पण' का निर्माण किया होगा। विश्वनाथ कविराज के द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या ९ अद्यावधि ज्ञात है परन्तु अनेक पद्य अभी 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ कविराज के ऐसे मिलेंगे जिनके स्थान का पता लगाना शेष है और वे इसके अतिरिक्त अन्य अज्ञात रचनाओं में से भी किन्हीं के हो सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कविराज की रचनाओं का एक रचनाक्रम उपरिनिर्दिष्ट विचारप्रणाली से स्थापि हो जाता है।

परम्परागत'वंशगौरव एवं शास्त्रपाण्डित्य

विश्वनाथ कविराज के पूर्वज कलिङ्गराज्य में अपने पाण्डित्य एवं काव्य विद्या के कारण ही महत्वपूर्ण राजकीय पदों पर आसीन थे। विश्वनाथ कविराज के वृद्धप्रपितामह नारायणदास शास्त्रार्थी पण्डित होने के साथ-साथ साहित्यशास्त्र के महत्वपूर्ण आचार्य भी थे। इनकी अनेक मान्यताओं का विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्यदर्पण' तथा काव्यप्रकाश-दर्पण में यथाप्रसंग उल्लेख किया है जो इनके अलङ्कारशास्त्र पर स्वतन्त्र विचार-विमर्श के साथ-साथ तत्कालीन पण्डितसमाज पर विद्वत्ता के अप्रतिम प्रभाव का भी संकेत करता है। नारायणदास नरसिंहदेव के सभापण्डित थे।

विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह 'उल्लासदास' भी नरसिंहदेव की सभा में विद्यमान रहे तथा इन पर भी शासन की पूज्य भावना रही थी। विश्वनाथ कविराज ने 'उल्लासदास' का अपनी काव्यप्रकाश-दर्पणव्याख्या में उल्लेख भी किया है। जो नरसिंहदेव के पूज्य गुरु एवं सभापण्डित रहे थे।

विश्वनाथ कविराज के पिता चन्द्रशेखर कवि एवं पण्डित थे। इनकी दो कृतियों का 'साहित्यदर्पण' में उल्लेख किया गया है। ये त्रिकलिङ्गभूपालों के सान्धिविग्रहिक पर कार्य करते थे तथा महाकवि थे। विश्वनाथ ने इनकी अनेक सूक्तियाँ 'दर्पण' में उद्धृत की है जिससे इनकी अन्य रचनायें भी अवश्य रही होंगी ऐसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है। 'महाकवि' उपाधि से विभूषित होने के कारण इनके द्वारा किसी महाकाव्य की रचना अवश्य की गयी होगी। चन्द्रशेखर महाकवि की पुष्पमाला (नाटिका) तथा भाषार्णव नामक भाषाओं का व्याकरण-ग्रन्थ सम्प्रति पूर्णतः उपलब्ध नहीं है, केवल अनन्तदास द्वारा 'भाषार्णव' से लिये गये उद्धरण साहित्यदर्पण 'लोचन'[1] में प्राप्त होते हैं।

विश्वनाथ कविराज के पितामहानुज कविपण्डितमुख्य चण्डीदास थे। ये भी अपने पिता की तरह ही शास्त्रार्थी पण्डित थे। काव्यप्रकाश पर 'दीपिका' टीका का इन्होंने निर्माण किया था। 'दीपिका' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि चण्डीदास दर्शनशास्त्र के अप्रतिभट विद्वान होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कवि भी थे। चण्डीदास भी अपने ज्येष्ठतात उल्लासदास की तरह नरसिंहदेव की सभा को ही सुशोभित करते थे।

---

१. द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण लोचनटीका (पृष्ठ २८३) में निम्न उद्धरण—तदुक्तं भाषार्णवे—

'भाषा मध्यमपात्राणां नाटकादौ विशेषतः।
महाराष्ट्री सौरसेनीत्युक्ता भाषा द्विधा बुधैः ॥' इति।

विश्वनाथ कविराज के इन सभी पूर्वजों ने महनीय कीर्ति का अर्जन किया और अनेक विरुद धारण किये थे। इनमें अनेक सान्धिविग्रहिक, कविराज तथा महापात्र थे। जिनमें सान्धिविग्रहिक पद राजकीय अधिकारी होने पर दिया जाता होगा तथा 'कविराज' इनके काव्यसौष्ठव पर प्रसन्न होकर कलिङ्गराज द्वारा दी गयी होगी। वंशपरम्परागत उपाधि इनकी 'महापात्र' हैं जो इनके ब्राह्मणवंश को निदर्शित करती है। उडीसा में आज भी सहस्रों ब्राह्मणकुल महापात्र कहलाते हैं। प्रायः सभी शिलालेख एवं कृतियों में इनकी 'महापात्र' उपाधि का उल्लेख किया गया है। इनका कपिञ्जल कुल था जो सम्भवतः अब भी उडीसा में यत्र-तत्र प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् 'महापात्र' शब्द को 'महामात्र' मानते हैं परन्तु यदि ऐसा ही होता तो पूर्ववर्णित ग्रन्थों की प्राप्त पुष्पिकाओं और उल्लेखों में केवल 'महापात्र' शब्द उपलब्ध न होता।

विश्वनाथ कविराज भी अपने पिता के समान कलिङ्गराज्य के प्रतिष्ठित पदाधिकारी थे और पिता के योग्य उत्तराधिकारी भी। अतएव इनके नाम के साथ सान्धिविग्रहिक, महाकवि आदि विरुद लगी हुई है। इसके अतिरिक्त वे उद्भट विद्वान् आलंकारिक एवं कलाविद् थे। रसिकता विश्वनाथ कविराज की सर्वोत्तम-सुरभि है (जो सभी क्षेत्रों में व्याप्त है)। ये रसिक शिरोमणि होने के कारण ही 'कविसूक्तिरत्नाकर' विरुद धारण करते थे। वर्णों के मनमोहक संगीत का इनकी रचनाओं में सर्वत्र प्रगाढ़ प्रस्तुतीकरण प्राप्त होता है। काव्यप्रकाशदर्पण में इसी तथ्य को 'संगीतविद्याविद्याधर' विरुद के द्वारा निदर्शित किया है। चन्द्रकला नाटिका में दिये गये विवरण से इनकी 'नाट्यवेददीक्षागुरु' उपाधि का पता चलता है। सचमुच नाट्यशास्त्र' पर इनका गहन अध्ययन था जो साहित्यदर्पण के नाटकादि विवेचन के देखने पर इसकी सार्थकता को पुष्ट करता है। इसके अतिरिक्त अपने पिता से विरासत में प्राप्त भाषाओं एवं शास्त्रों के ज्ञान के कारण ये 'विविधविद्यार्णवकर्णधार' (दर्पण में साहित्यविद्यार्णवकर्णधार पाठ मिलता है) एवं 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' भी कहलाते थे। काव्यप्रकाशदर्पण में इसके अतिरिक्त 'कलाविद्यामालतीमधुकर' उपाधि भी प्राप्त होती है जो केवल विशेषणसंवर्द्धन न होकर इनकी लोकप्रियता एवं पाण्डित्य की प्रसिद्धि एवं विस्तार को ही निदर्शित करती है।

वैष्णवधर्म में विश्वनाथ कविराज की आस्था देख कर अनेक विद्वानों ने इन्हें वैष्णव माना है परन्तु यह उचित नहीं। एक तो वैष्णव नामों के अतिरिक्त इनके वंशजों के अन्य नाम भी विद्यमान हैं दूसरे स्वयं विश्वनाथ कविराज ने ही शिव और विष्णु की यथाप्रसंग स्तुति

की है। 'दर्पण' का मंगलाचरण यदि सरस्वती-वन्दनापरक है तो चन्द्रकला का शिव की वन्दना करता है। चन्द्रकला का भरतवाक्य विष्णु की कृपा का आकांक्षी है तो 'दर्पण' का समाप्ति पद्य भी वही बात कहता है। इसके अतिरिक्त इन्हीं के पिता चन्द्रशेखर महाकवि की पुष्पमाला में दी गयी नान्दी गौरी-वन्दना में आबद्ध है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सामान्य उत्कल निवासी ब्राह्मण की तरह ये भी परम्परागत पंचदेवोपासक स्मार्त्त थे।

संक्षिप्त-समाचार

चन्द्रकला नाटिक की कथावस्तु इस प्रकार है :—

नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार नटी को बुलाकर बतलाता है कि आज विश्वनाथ कविराज द्वारा रचित चन्द्रकला-नाटिका को श्री निश्शङ्कभानुदेव के साथ उपस्थित राजकीय जन एवं जनसमुदाय के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। तब नटी वसन्तऋतु का गीत प्रस्तुत करते हुए एक गाथा प्रस्तुत करती है जिसमें भ्रमर का कुन्दलता को बिना छोड़े ही आम्रमञ्जरी का रसग्रहण करने की बात कही जाती है। इसी तथ्य को जब सूत्रधार अपनी सहमति देता है तभी सूत्रधार के कथन को दोहराते हुए महामन्त्री सुबुद्धि आते हैं।

महामात्य सुबुद्धि को दिव्यवाणी से जब यह पता चलता है कि उन्हें प्राप्त हुई राजकुमारी चन्द्रकला से जिसका विवाह होगा उसे स्वयं महालक्ष्मी अभीष्ट वरदान प्रदान करेंगी। महामन्त्री ने तभी इस लाभ को अपने स्वामी महाराज चित्ररथदेव को उपलब्ध करवाने का निश्चय कर चन्द्रकला को अन्तःपुर में अपनी सम्बन्धिनी बतला कर महारानी के संरक्षण में रख दिया। मन्त्री को विश्वास था कि वहाँ महाराज चन्द्रकला को देखकर स्वयं आसक्त हो जाएँगे और फिर चन्द्रकला से महाराज के पाणिग्रहण को सरलता से सम्पन्न किया जा सकेगा।

महामन्त्री के इस प्रयास को सफलता मिलने लगी और अन्तःपुर की विश्वस्त परिचारिका सुनन्दना ने महामन्त्री को समाचार दिया कि महाराज चन्द्रकला को देख कर आसक्त हो चुके हैं और अब उसे पाने को अधीर हो रहे हैं। चन्द्रकला से उनका मिलन करवाने के लिए यह उपाय सोचा गया कि जब महाराज मनोविनोद के लिए प्रमदोद्यान में आएँ तभी सुनन्दना चन्द्रकला को भी वहीं ले जाकर महाराज से मिलन करवादे। निदान सुनन्दना चन्द्रकला को प्रमदोद्यान में ले जाती हैं। महाराज उसके अंगलावण्य और सौन्दर्य को देखकर उस पर अतिशय अनुरक्त हो उठते हैं। इधर चन्द्रकला भी महाराज

के सौन्दर्य को देखने का अवसर प्राप्त करती है और उन पर आसक्त हो जाने के कारण लज्जावश वहीं ठिठक जाती है। तभी सहसा महारानी की दासी रतिकला के आजाने से इस प्रणयव्यापार में विघ्न आजाता है और चन्द्रकला अपनी सखी सुनन्दना को लेकर पास ही लता की ओट में छिप जाती है। रतिकला महाराज को निवेदन करती है कि महारानी वसन्तलेखा उन्हें बुलवा रही है तथा इसी कार्य के लिए अन्य परिचारिकाओं को भी महाराज की तलाश करने के लिए भेजा जा चुका है। सन्देश सुनकर महाराज रतिकला के साथ अन्तःपुर को चल पड़ते हैं और चन्द्रकला को संकेत से अपने पुन-र्मिलन की सूचना दे देते हैं।

महारानी वसन्तलेखा महाराज के साथ प्रमदोद्यान में जाकर सायंकाल के समय ही चन्द्रकिरणों से चन्द्रमा का मिलन-महोत्सव सम्पन्न करवाने के लिए महराज से प्रार्थना करती है। इसी समय वहाँ एक वघेरा घुस आने के समाचार से त्रस्त होती हुई महारानी अन्तःपुर में भेज दी जाती हैं और महाराज वघेरे को मारने की तैयारी करते हैं। जव महाराज वघेरे पर तीर चलाने को होते हैं तभी वघेरा अपना रूप छोड़कर मित्र रसालक के रूप में वदल जाता है और महाराज को चन्द्रकला से मिलने के लिए अपने साथ प्रमदोद्यान के एक एकान्त स्थान पर ले जाता है।

प्रमदोद्यान में सखी सुनन्दना को लेकर चन्द्रकला वहुत समय पूर्व ही पहुँच गयी थी जो अब वहाँ महाराज के न मिलने से विरह सन्तप्त हो कर घवड़ाने लगती है। महाराज प्रमदोद्यान में जव पहुँचते हैं तो चन्द्रकला की दशा को छिप कर देखना उचित मान कर पहिले तो लता की ओट में हो जाते हैं किन्तु फिर सहसा उसके पास पहुँचकर उसे आश्वस्त करने लगते हैं। विदूषक महाराज को संकेत से सहसा महारानी के आने का समाचार देता है। तभी घवड़ाहट में अपनी अंगूठी को वहीं छोड़कर चन्द्रकला सुनन्दना के साथ वहाँ से चली जाती है। महाराज उस अंगूठी को उठा लेते हैं और अपने मित्र को सम्हाल कर रखने के लिए दे देते हैं। तभी महारानी वहाँ आ पहुँचती है और वघेरे को मारने पर महाराज का अभिनन्दन करती है और इसी उपलक्ष में विदूषक को अपना हार उपहार में दे डालती है। विदूषक हार को अपने गले में डालकर अहङ्कारवश अपने पास विद्यमान चन्द्रकला की अंगूठी भी पहिन लेता है जिसे महारानी पहिचान लेती है और अतिशय क्रुद्ध होकर महाराज के रोकने पर भी अन्तःपुर में चली जाती है। महाराज विदूषक को उसकी भूल वतलाते हैं और वह महारानी के क्रोध को हटाने की प्रतिज्ञा करता है।

इधर जब विदूषक को पता लगता है कि महारानी ने चन्द्रकला को सुनन्दना के घर छिपा दिया है तो वह सुनन्दना की सहायता से ही चन्द्रकला के साथ महाराज का प्रमदोद्यान के मणिमण्डप में मिलन करवाने का उपाय करता है। किन्तु असावधानीवश वह स्वयं इसका सङ्केत महारानी की विश्वस्त परिचारिका माधविका को देता है और यह समाचार महारानी तक पहुँच जाता है। महाराज चन्द्रकला से मिलने के लिए रात्रि के समय प्रमदोद्यान में पहुँचते हैं और वहाँ चन्द्रकला को न पाकर दुःख में उन्मत्त विरही की तरह अकेले प्रलाप करने लगते हैं। तभी उनका मित्र रसालक सूचना देता है कि चन्द्रकला मणिमण्डप में आ चुकी है। महाराज भी मणिमण्डप पहुँच कर चन्द्रकला से मिलते हैं। परन्तु महाराज का पीछा करती हुई महरानी भी अपनी सखियों के साथ मणिमण्डप तक पहुँच कर छिप जाती है पर क्रोधाति-रेक के कारण इनके प्रणयालाप को सहन न करती हुई आगे बढ़ जाती है। वह विदूषक को सुनन्दना के साथ बाँध कर ले चलने और चन्द्रकला को बन्दी बनाने की आज्ञा देती है जिसकी पूर्ति भी तुरन्त हो जाती है। महाराज सारी घटना को देखते रह जाते हैं और अन्त में खिन्न होकर अकेले ही राजमहल की ओर बढ़ जाते हैं।

इस प्रकार कुछ समय बीत जाता है और चन्द्रकला के बन्दी बनाये जाने से महाराज विरहसंतप्त बने रहते हैं। तभी महारानी के पितृगृह पाण्डदेश से महाराजा का सन्देश लेकर दो बन्दीगण दर्शनार्थ आते हैं। अपने पितृगृह से अनेक वर्षों बाद समाचार आने से तत्सम्बन्धी कौतूहल के अतिशय बढ़जाने के कारण महारानी विदूषक को प्रसन्न करने के लिये उसे तुरन्त कारा से मुक्त कर पुरस्कृत करती है और उसी के द्वारा महाराज के साथ मणिमन्दिर में बन्दीगण से मिलने की महाराज से अभ्यर्थना भी करती है। महराज को जब विदूषक निवेदन करता है तो वे महारानी की प्रार्थना पर मणिमन्दिर में विदूषक के साथ पहुँच जाते हैं और महारानी के साथ बन्दीगण से मिलते हैं। बन्दीगण महाराज को समाचार देते हैं कि—'पाण्डयराज की छोटी पुत्री एक बार मनोरंजनार्थ विहार के लिए निकली तो रास्ता भूलजाने से अरण्य में भटक गयी जिसे शबरराज ने अकेली पाकर विन्ध्यवासिनी देवी के बलिदान के लिए उपयुक्त लक्षणोंवाली कन्या समझ कर स्वयं के महल में बन्दी बना दिया और कृष्णचतुर्दशी की रात्रि को ज्यों ही बलि चढ़ाने के लिए देवी-मन्दिर में लेजाकर अपनी खड्ग उसने उठायी ही थी कि वहाँ विक्रमाभरण सेनापति का एक सैनिक दर्शनार्थ आ गया और उसने निरपराध कन्या की रक्षा करते हुए शबरराज को युद्ध में मार डाला और राजकन्या को सेनापति विक्रमाभरण के संरक्षण में रख दिया। सेनापति ने सारी स्थिति महामन्त्री

सुबुद्धि को बतला कर उस कन्या को भी भेज दिया था अतः वह कन्या इस समय आपके ही संरक्षण में है। कन्या के सुलक्षणा और अतिशय सौभाग्य-शाली होने से पाण्ड्यराज ने इसे अपने जामाता चित्ररथदेव को ही प्रदान करने का निश्चय कर रखा था अतः अब आप महारानी वसन्तलेखा की सहमति से उसके साथ पाणिग्रहण कर लें।

महाराज और महारानी इस समाचार को सुन कर महामन्त्री सुबुद्धि को दरबार में बुलवाते हैं। महामन्त्री बतलाते हैं कि विक्रमाभरण के द्वारा जब यह राजकन्या मेरे पास भेजी गयी तभी मुझे एक दिव्यवाणी सुनाई दी थी कि जो इस कन्या से विवाह करेगा उसे स्वयं महालक्ष्मी अभीष्ट वर प्रदान करेगी। अतएव मैंने इसे अपनी सम्बन्धिनी बतला कर महारानी के ही संरक्षण में रख दिया था।

सारी घटनाओं को सुन कर महारानी चन्द्रकला को जब वहाँ बुलवाती है तो वन्दी उसे पहचान लेते हैं। निदान पाण्ड्यराज की द्वितीय कन्या चन्द्रकला से पिछले कठोर व्यवहार पर पश्चात्ताप प्रकट करती हुई महरानी वसन्तलेखा स्वयं महाराज चित्ररथदेव का चन्द्रकला के साथ पाणिग्रहण सम्पन्न करवा देती है। ज्यों ही विवाह होता है वहाँ महालक्ष्मी प्रकट होकर सभी को दर्शन देकर अभीष्ट वर प्रदान करती है।

नाटकीय-समीक्षा

'चन्द्रकला नाटिका की कथावस्तु रत्नावलीं, स्वप्नवासवदत्त आदि पूर्व-वर्ती रचनाओं तथा उनमें आनेवाली घटनाओं से पर्याप्त सादृश्य लिये है और नाटिका के शास्त्रीय लक्षण और नाटचरूढ़ियों का मनोयोगपूर्वक प्रस्तुतीकरण करती है। यदि शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान से देखें तो प्रस्तुत नाटिका में लक्षणानुसार चार अंक हैं तथा महारानी आदि स्त्रीपात्रों की प्रमुखता और बाहुल्य है जो नाटकीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आचार्य भरत, कोहल एवं धनञ्जय आदि ने शृङ्गाररस के साथ संगीत आदि कलात्मक तत्त्वों का सहभाव नाटिका में निर्दिशित किया है और यथासम्भव इनके सम्मिश्रण को आवश्यक भी माना है। चन्द्रकला की नायिका यद्यपि मालविकाग्निमित्र की मालविका की तरह नृत्यविशारदा, स्वप्नवासवदत्त की वासवदत्ता जैसी वीणावादनकुशला या रत्नावली की तरह चित्रकर्मविशारदा नहीं है किन्तु वह एक रूपलावण्यसम्पन्ना सुलक्षणा कन्या के रूप में बड़ी सफल एवं प्रभावशालिनी बन पड़ी है। नाटिका में शृङ्गार के विप्रलम्भपक्ष का जो कलात्मक प्रस्तुतीकरण है वह करुणगीतिनिनाद सा आवर्जक एवं मनोहारी प्रभाव डालने में पर्याप्त सक्षम है।

विश्वनाथ कविराज का व्यक्तित्व गम्भीर शास्त्रानुशीलन के कारण आलङ्कारिक आचार्यत्व की ओर अधिक झुकाव लिये हुए था। इसी कारण प्रस्तुत नाटिका में शास्त्रीय लक्षणों एवं रूढ़ियों का जहाँ पूर्णतः अनुसरणकरने का उद्योग हुआ वहीं मौलिकता के लिए कठिनाई उपस्थित हुई और ऐसा लगने लगा कि इसमें घटित घटनाएँ कहीं स्वप्नवासवदत्ता के, कहीं रत्नावली या प्रियदर्शिका के या फिर कालिदास के मालविकाग्निमित्र आदि के आसपास मंडरा रही हों। सर्वत्र एक उदाहरण के रूप में निर्मित नाटिका का रूप ही उभरता दिखलाई पड़ता है और इस प्रकार विश्वनाथ कविराज मूल्याङ्कन के वाद द्वितीयश्रेणी के नाटयकार ही ठहरते हैं। यदि इनकी अन्य नाटिका प्रभावती-परिणय प्राप्त होती तो तुलनात्मक दृष्टि से नाटकीयता का विनिश्चय सरल होता और तभी इनके संविधानकौशल एवं अन्य नाटकीय गुणों का उचित विवेचन किया जा सकता था। प्रस्तुत कृति को देखने से ऐसा लगता है कि वे अपने पात्रों के कार्यों और घटना-कौशल में रत्नानली जैसी दीप्ति उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हैं इसी कारण कालिदास के सदृश नाट्यकौशल एवं प्रखर आकर्षण शक्ति का प्रस्तुतीकरण प्रस्तुत कृति में दूर की वात हो गयी। कहीं-कहीं मालविकाग्निमित्र की अनुकृति करते हुए विरहिजन को कष्ट देने-वाली दशा का प्रसंग उठाया गया है और इस क्रम में वसन्त के सारे आलम्वन एवं उद्दीपन दिखाये गये हैं। इसी प्रकार चन्द्रिका का भी एक प्रसंग पर उल्लेख किया गया है परन्तु ऐसे समय पात्रों के कार्य या व्यवहार अधिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाये यहाँ तक कि राजा का विरह प्रलाप स्पष्टतः 'विक्रमो-र्वशीयम्' के पुरूरवा-प्रलाप की एक अनुकृति मात्र वन कर रह गयी।

इसी प्रकार 'रत्नावली' के वानर की तरह जो यहाँ तरक्षु प्रसंग की उद्भावना की गयी है उसे सर्वथा तर्कसंगत नहीं माना जा सकता क्योंकि महारानी चतुर होकर भी नकली तरक्षु का विनिश्चय नहीं कर पाती है। आगे भी उनके इसी प्रकार के स्वभाव का थोड़ा अंकन किया गया है जब वह अपनी ही छोटी वहिन को ठीक से नहीं पहचानती जव कि पितृगृह से आने वाले वन्दीगण चन्द्रकला को तुरन्त जान लेते हैं। इससे पाठकों को यह भी अनुमान लगाना पड़ता है कि कदाचित् महामन्त्री सुवुद्धि ने चन्द्रकला को अपना ठीक परिचय न देकर अन्तःपुर में रहने की सलाह दी होगी परन्तु यही वात यदि स्वप्नवासवदत्त की तरह कथाक्रम में ही स्पष्ट घटना के रूप में या कथनोपकथन में रख दी जाती तो अधिक अच्छा होता।

नाटिका की कथावस्तु 'कल्पित होती है और ऐसे स्वरूप को प्रस्तुत करने का ही विश्वनाथ कविराज का उद्योग रहा है। अतएव इसे किसी पौराणिक या

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा के आधार पर ग्रथित 'नाटिका' नहीं माना जा सकता। यदि हम प्रस्तुत नाटिका के नायक चित्ररथदेव को भानुदेव का प्रतीक माने (विश्वनाथ कविराज जिनके आश्रित एवं सभापण्डित थे) तो यह इतिहास से स्पष्ट नहीं हो पाएगा कि महाराज भानुदेव चतुर्थ की महारानी राजुला देवी पाण्डयदेश की थी या किसी अन्य प्रदेश की और इस प्रकार यह विचार एक दूरारूढ़ कल्पना मात्र होगी उसके ऐतिहासिक उत्स स्थापित करने में। और इस प्रकार हम इसे उत्पाद्य कथावस्तु-समन्वित नाटिका के स्थान पर इसके अन्य रूप को स्पष्ट करने में भी समर्थ न हो पाएँगे। क्योंकि तब सेनापति के विक्रमाभरण या महामन्त्री सुबुद्धि के अभिधानों को भी प्रतीक मान कर उनका स्पष्टीकरण देना होगा। अतएव 'नाटिका' की कल्पित कथावस्तु को ही नियमानुसार यहाँ (भी) रखा गया है यही मानना युक्तिसंगत होगा।

'चन्द्रकला' की समीक्षा के प्रसंग में उसके अनुपम एवं मनोहारी नाटच-सौष्ठव को भुलाया नहीं जा सकता जिसमें अनेक सुन्दर वृत्तचित्रों को काव्यात्मकता के रमणीय परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। ऐसे चित्र हमें रात्रि के अंधकार और प्रकाश, चीते का उपद्रव आदि में मिलते हैं जिनमें नायिका का सौन्दर्यवर्णन अपनी रमणीय पदावली और अनवद्यशैली के कारण हृदय को छू सा लेता है और महाराज चित्ररथदेव की संयोग और वियोग की अवस्थाएँ मार्मिक बन पड़ी हैं। इन प्रसंगों में वसन्तऋतु और चन्द्रोदय के प्राकृतिक-माध्यमों ने जिन रमणीय सङ्गीत ध्वनियों को छोड़ा वे निस्सन्देह मनोमुग्धकारिणी हैं। चन्द्रकला में काव्यसौन्दर्य के प्रचुर प्रदेश सहज प्राप्य है एवं इन्हीं विशेषताओं के कारण नाटचकार के रूप में भी विश्वनाथ कविराज का महत्वपूर्ण स्थान है। अपने कलात्मक सौष्ठव को पर्याप्त मात्रा में प्रकट करने में सक्षम होने के कारण नाटिकाओं के विकासक्रम में 'चन्द्रकला' ने मध्यकाल की रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने की उपयुक्तता को स्वतः प्रतिनिधिरचना बन कर प्रमाणित कर दिया है।

चन्द्रकला के पात्र

चित्ररथदेव (नायक)—महाराज चित्ररथदेव चन्द्रवंशीय सम्राट थे जो अपने समग्र शत्रुओं के पराभव के कारण निश्चिन्त हो चुके थे। ये प्रकृतिप्रेमी और अतिशय मृदुभाव के होने पर भी उदयन के समान न तो संगीतकला के स्वयं प्रयोक्ता हैं और न ही दुष्यन्त की तरह चित्रकर्मनिपुण ही। ये तो मनोरंजन के समग्र अवसरों में स्वयं को लगा कर जीवन बिताने वाले व्यक्तियों में हैं जिनका समययापन अपने मित्र रसालक की गपशप में बीतता है। वीरता के परम्परागत धनी होने के कारण प्रमदोद्यान में बघेरे के आने के समाचार से

उत्तेजित हो कर वे स्वयं ही उसे मारने के लिए उठपड़ते हैं। प्रेम में छलप्रपञ्च की उपयुक्तता को कदाचित् स्वीकारने के कारण ये एक सचमुच के बघेरे को मार कर और उसे वाणों से छेद कर रख देने का शवर को आदेश देते दिखाई पड़ते हैं।

इनके प्रत्येक व्यवहार में कुलीन पुरुष की गम्भीरता परिलक्षित होती है अतः चन्द्रकला में अनुरक्त रहने पर भी ये महारानी वसन्तलेखा के प्रति सम्मान, नम्रता एवं स्नेहपूर्ण व्यवहार में कमी नहीं दिखलाते। यहाँ तक कि जब महारानी चन्द्रकला के साथ इनके मिलन में विघ्न उत्पन्न करने लगती तब भी ये उसे किसी प्रकार का मानसिक आघात पहुँचाना नहीं चाहते और अपनी मृदुप्रकृति का परिचय देते हुए महारानी की सभी प्रार्थना और आकांक्षाओं की पूर्ति करते रहते हैं, यहाँ तक कि रसालक जब इनसे महारानी का सन्देश कह कर मणिमण्डप प्रासाद में वन्दीगण से मिलने की प्रार्थना करता है तो ये तुरन्त उसके साथ रनिवास में चलने को उद्यत हो जाते हैं। ये क्रोधासक्त महारानी को समझाने का उद्योग करते हुए रत्नावली के वत्स-राज उदयन या मालविकाग्निमित्र के अग्निमित्र से दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार नाटिका के लिये अपेक्षित नायक के लक्षणानुसारी परम्परागत दक्षिण-नायक का पूर्णतः निर्वाह 'चन्द्रकला' में चित्ररथदेव द्वारा सम्पन्न किया गया है।

चन्द्रकला—(नायिका)—प्रस्तुत नाटिका की नायिका 'चन्द्रकला' है जिसके नाम पर ही हर्ष की रत्नावली आदि के अनुकरण पर नाटिका का नाम-करण हुआ है। इसका चित्रण नायिका के समग्र लक्षण और अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए विश्वनाथ कविराज ने सावधानी से किया है। नाट्य-शास्त्रादि के अनुसार चन्द्रकला परकीया कन्या नायिका है जो नवानुराग के कारण 'मुग्धा' स्वरूप को वहन करती है। यह पांड्यनरेन्द्र की द्वितीयात्मजा तथा महारानी वसन्तलेखा की छोटी बहिन है परन्तु महारानी को (भी) इस तथ्य का ज्ञान नहीं था। इसका पता केवल सुबुद्धि महामन्त्री को ही सर्वप्रथम लगता है कि यह अतिशय सौभाग्यशालिनी कन्या है। इसी कारण वह इसी के भाग्य से महाराज की भावी समृद्धि बनाना उपयुक्त मानकर इसी से महा-राज का विवाह करवाने का उद्योग करता है और इसी क्रम में सर्वप्रथम वह चन्द्रकला को अपनी सम्बन्धिनी कन्या बतला कर महारानी के संरक्षण में रखने और उसे अन्तःपुर में रहने का अवसर दिलवाने में सफल हो जाता है। इसी कारण कदाचित् महारानी ने उससे अधिक आत्मीयता स्थापित करना आवश्यक नहीं समझी और महामन्त्री की सम्बन्धिनी होने के भ्रम से ही सदा वह आच्छन्न रही।

चन्द्रकला सुलक्षणा तो थी ही परन्तु इसका कवि के शब्दों में स्वरूप है 'निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मी' तथा 'लावण्यामृतपूरणमयी'। इसके इसी स्वरूप को

देखने पर महारानी तक को सदा आशंका वनी रहती थी कि इसे देखते ही महाराज कहीं इस पर अनुरक्त न हो उठें। परन्तु चन्द्रकला ने ही सर्वप्रथम प्रमदोद्यान में चित्ररथदेव को देखा तो वह स्वयं उन पर आसक्त हो उठी। चन्द्रकला कोमल प्रकृति की वह कन्या है जिसमें सांसारिक सुख दुःखों को अधिक अनुभव और सहन करने का सामर्थ्य नहीं था। उसे वियोगाधि का जव प्रथम प्रथम अनुभव होता है तो कालिदास की शकुन्तला की भाँति वह भी अतिशय विकलता धारण करती है।

इसका वड़ा लजीला स्वभाव है और (इसी कारण) यह अपने प्रिय को दृष्टि उठा कर पूरी तरह देखती तक नहीं, पूछने पर ठीक से उत्तर नहीं देती एवं प्रिय के सम्मुख उपस्थित हो जाने पर झुक जाती और प्रिय के तनिक से स्पर्श पा जाने पर कांपने लगती है। यही सहजगुण इसे सर्वाधिक आकर्षण की उच्चतम भूमि पर पहुँचा देता है। और इसी कारण विना अधिक प्रयास के वह महाराज चित्ररथदेव की प्रेमपात्री बन जाती है।

कालिदास की मालविका के समान चन्द्रकला नृत्य-संगीत में वैदग्ध्य नहीं रखती और रत्नावली के समान वह चित्रकर्म में निपुण भी नहीं फिर भी अपने सहज रूप लावण्य एवं सुलक्षणों से वह अवश्य आपूर्ण है और इसी कारण उसके पाणिगृहीता को महालक्ष्मी के साक्षात् दर्शन से लाभान्वित होकर सम्पूर्ण इष्टतम पदार्थों के उपलब्ध होने की भविष्यवाणी को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया गया है जो रत्नावली प्रभृति नाटिकाओं की रूढ़िमूलक परम्परा का अनुसरण करते हुए कल्याण प्राप्ति के नये पार्श्व का उद्घाटन करती है।

वसन्तलेखा (महादेवी)—महारानी वसन्तलेखा प्रधान महिषी और पाडचनरेश की ज्येष्ठ कन्या है। नाटिका में जेष्ठ महारानी की महत्वपूर्ण स्थिति रहती है क्योंकि नायक पर कोप और प्रसाद करने के कारण नायक नायिका का मिलन इसी के अधीन होता है। इसी कारण नायक एवं नायिका के वाद महारानी की नाटिका में महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। महाराज भी नवीन प्रेयसी के साथ प्रणयपथ में अवतीर्ण होते समय सदा महादेवी से आशंकित और त्रस्त रहते हैं परन्तु सभी ओर से सतर्क रहने पर भी विदूषक के प्रमाद और अहंकार से महाराज के नवप्रणय की कलई खुल जाती है और महारानी नायिका और महाराज के प्रियमित्र रसालक तक को वन्धनागार में रख देती है।

महाराज की इस पट्टमहिषी को रस एवं प्रणय की समग्र विधाओं का कलात्मक वोध विद्यमान होने से यह प्रगल्भा नायिका की श्रेणी में आती है। इसका स्वभाव गम्भीर है और यह सदा मान धारण करती रहती है। यह

सदा महाराज की उत्सुक होकर प्रतीक्षा करती है और थोड़ा विलम्ब होने पर उनकी तलाश में स्वयं निकल पड़ती है। यह महाराज के साथ विहार करने की सदा इच्छुक रहने के कारण अनेक उपायों द्वारा उन्हें आमन्त्रित करने और मनोविनोद करने का उपक्रम करती रहती है।

महाराज के साथ उद्यान में विहार करते हुए जब बघेरे के घुस आने का समाचार सुनती है तव यह घवड़ा जाती है और जैसे ही उसके मारे जाने का समाचार प्राप्त करती है तो तुरन्त महाराज का अभिनन्दन करने को उतावली हो उठती है। इसका अपने स्वामी पर स्थिर अनुराग है अतः जव रतिकला महाराज के अन्यासक्त होने की वात करती है तो यह उसे डांटती भी है और आगे जव स्वयं चन्द्रकला के साथ महाराज के प्रणयोद्गारों को सुन लेती है तभी उत्तेजित होकर कठोर आज्ञाएं देती हुई सारी प्रणय-लीलाओं का संहार कर देना चाहती है। यह अपनी हठ पर इतनी अड़ी रहती है कि स्वयं महाराज भी अपने कार्य और निश्चय से उसे हटाने में असमर्थ हो जाते हैं परन्तु वह निपुण और नीतिज्ञ के समान जव सारी स्थिति जान लेती है तो उसे अपनी वहिन चन्द्रकला से भूल की क्षमायाचना तक करती हुई पछताती है और स्वामी की समस्त अभिलाषाओं की स्वयं पूर्ति करती है। वह स्वयं चन्द्रकला के साथ महाराज का विवाह करवा कर अपनी प्रतिष्ठा का ठीक से निर्वाह तो करती ही है साथ ही अपने पूज्य माता-पिता के आदेश का भी पालन कर देती है।

शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार वह ज्येष्ठा नायिका है जो प्रगल्भा और मानवती है। जिसका विश्वनाथ ने दर्पण में स्वयं लक्षण वतलाया है। इस प्रकार वह रत्नावली की महादेवी से समानता रखती है [तथा मालविकाग्निमित्र की महादेवी से भी जो नाटिका नहीं है] परन्तु महादेवी के मान का विस्तार कदाचित् 'चन्द्रकला में अपूर्व है और इस रूप में वसन्तलेखा का चित्रण कवि-कौशल का मौलिक निदर्शन भी है जहाँ वह मानिनी नायिका, आज्ञाकारिणी पुत्री और (स्वामी की) मङ्गलाकांक्षिणी भार्या बन जाती है।

सुवुद्धि—महामति एवं उदारचेता महामन्त्री सुवुद्धि का चित्रण करते समय विश्वनाथकविराज के मस्तिष्क में स्वप्नवासवदत्त या रत्नावली के यौगन्धरायण का आदर्श अवश्य ध्यान में रहा है। इसकी स्वामिभक्ति अपूर्व है और यह अपने कर्तव्यों का (राज्य की सारी व्यवस्था देखते हुए) अतिशय कुशलता से निर्वाह करता है। विश्वनाथ कविराज के शब्दों में यह 'राज्यपालननियुक्तधीसचिव' है।

इसी के प्रयासों से महाराज के साथ चन्द्रकला का पाणिग्रहण सम्भव होता है परन्तु यह अपने कूट प्रयास इतने सुगुप्त रखता है कि महारानी भी यह नहीं जान पायी कि जिस कन्या को महामन्त्री ने मेरे संरक्षण में रखा है वह स्वयं

मेरी ही वहिन है। इसकी स्वामिभक्ति और व्यवहार से महारानी सदा आश्वस्त रही और चन्द्रकला को सुखी बनाकर अन्तःपुर में रखने को इसी कारण राजी हो गयी थी। यद्यपि सुबुद्धि का नाटिका में प्रथम और अन्तिम अंक में ही प्रवेश करवाया गया है फिर भी सारे घटनाचक्रों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिचालन में सुबुद्धि के रहने की वात दर्शक के हृदय से एक क्षण भी विलग नहीं हो पाती। इस प्रकार प्रस्तुत नाटिका में सुबुद्धि की भूमिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

रसालक—नाट्यशास्त्र के आचार्यगण विदूषक को हास्यकारी पात्र के रूप में नाटिका आदि में रखते रहे हैं जिसका नाम किसी कुसुम या ऋतु के आधार पर रखा जाए। तदनुसार यहाँ इसका नाम 'रसालक' रखा गया है। यह महाराज चित्ररथदेव का नर्मसचिव एवं प्रिय सुहृद् भी है जो प्रणय और मनोरंजन के प्रत्येक प्रसंग में महाराज की सहायता करता रहता है। हास-परिहास का मुख्य केन्द्र वन कर यह प्रणयकथा-वहुल नाटिका में महत्वपूर्ण स्थान पर आसीन है परन्तु अभिमान और मूर्खता के अप्रत्याशित मिश्रण से कभी-कभी यह संकटपूर्ण परिस्थितियाँ खड़ी कर देता है।

स्वभाव से ही हँसोड़ होने के कारण यह कार्य, देश और चेष्टाओं द्वारा सदा सभी के मनोरंजन में लीन रहता है। कभी-कभी तो दासियों को देखकर न केवल अपनी ऐंठ दिखलाता है किन्तु दुर्वचन तक कहने लगता है और कभी-कभी दासियों के आग्रह पर भयभीत होकर गुप्त वात भी प्रकट कर देता है।

इसका शृङ्गाररस में सहायक पात्र के रूप में विनियोजन आवश्यक माना जाता है और इसी कारण सदा यह अपने बुद्धिकौशल से महाराज के इष्ट साधन में लगा रहता है। यहाँ तक कि जब वह महारानी से महाराज को दूर कर चन्द्रकला के पास पहुँचाने का उपयुक्त माध्यम नहीं देखता तो स्वयं वघेरा वन कर ऐसा वातावरण वना डालता है जिससे महाराज चन्द्रकला के पास शीघ्र पहुँच सकें। वह अपनी प्रशंसा करते हुए स्वयं कहता है कि प्रणय-प्रसंग में सभी कभी कभी मन्त्रियों को वह मात दिए हुए है। (अतिशयित-सकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन)

इसका एक अन्य गुण हंसोड़ है। भोजनप्रियता या पेटूपन जिसे ब्राह्मण होने के कारण वह कभी नहीं भूलता और किसी भी उपयुक्त अवसर के आने पर वह भोजन की चर्चा विना छेडे अन्य वातों को तो प्रस्तुत ही नहीं करना चाहता। इस प्रकार परम्परागत तत्वों के साथ हास्यरस की सृष्टि का मूलाधार वनते हुए सफलता से वह अपने कार्य का निर्वाह करता है।

सुनन्दना—महामन्त्री सुबुद्धि की विश्वासपात्र दासी के रूप में सुनन्दना का नाटिका में महत्वपूर्ण स्थान है। यह चन्द्रकला की प्रियसखी है और महाराज

से चंद्रकला के मिलन के प्रत्येक अवसर पर महत्वपूर्ण सहायता करने को सदा उद्यत रहती है। इसी प्रकृति मृदु होने से यह सहज ही चन्द्रकला के लिये एक संरक्षिका सी दिखाई देने लगती है।

विदूषक आदि सभी का इसे विश्वास प्राप्त (रहता) है और यह राज-सेवा में ठीक से कार्यरत रहकर पूर्ण स्वामिभक्ति का परिचय देती है।

रतिकला—महारानी की अतिशय विश्वस्त दासी है जिसे केवल महा-रानी पर ही अतिशय भक्ति है। इसकी तीक्ष्ण दृष्टि है और हृदय कठोर तथा कुटिल भावों से व्याप्त। साधारण काइयां राजनीतिज्ञों की तरह यह सदा शिकायत करने की अभ्यस्त और छिछले स्वभाव वाली है। इसकी राजभक्ति सर्वतोगामी स्वामी की मंगलकामना से रहित है अतः जब यह महाराज को अन्यासक्त पाती है तो तुरन्त उनकी शिकायत करने में भी नहीं हिचकती। इसे महाराज के नवप्रणय से कोई वास्ता ही नहीं दीखता और यह सदा महादेवी के प्रतिष्ठा-संरक्षण में व्यस्त दिखाई पड़ती है।

माधविका—अन्तःपुर की एक अन्य परिचारिका माधविका है जिसे विदूषक विश्वस्त मानता है परन्तु अन्त में यह भी महारानी के पक्ष की दासी निकल जाती है जो ठीक समय पर चन्द्रकला एवं महाराज के रात्रि-मिलन की सूचना महादेवी वसन्तलेखा को देकर उसकी सारी योजना पर पानी फेर देती है।

बन्दीगण—महाराज पाण्डयनरेश के परम्परागत चारण के रूप में बन्दी-गण का कार्य नाटिका में अतिशय अल्प है। ये राजकुमारी चन्द्रकला के अपने घर से खो जाने के बाद उसकी भावी स्थिति का वर्णन प्रभावशाली प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। चन्द्रकला को पहिचान लेते हैं और चन्द्रकला तथा महा-राज के मिलन के बीच की सारी कठिनाइयो को दूर कर डालते हैं। बन्दी-गण के आने की घटना भी 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक की याद दिलाती है जहाँ बन्दीगण 'वासवदत्ता' को पहिचान लेते हैं।

इसके अतिरिक्त अतिशय गौण भूमिकाओं में लक्ष्मी, परिचारिका और शवर आदि आते हैं जिनके कथावस्तु के अनुसार कार्य रखे गये हैं और जो नाटकीय घटनाओं को अपने समग्र रूप में प्रस्तुत करने हेतु अंगभूत हैं।

नाट्य-शास्त्रीय विश्लेषण एवं काव्यसौष्ठव

चन्द्रकला की प्रस्तावना में सूत्रधार ने इसे विश्वनाथ कविराज की कृति बतला कर 'नाटिका' कहा है। भरतमुनि से लेकर विश्वनाथकविराज तक सभी नाट्यशास्त्रज्ञ आचार्यों ने नाटिका के समय-समय पर विभिन्न लक्षण दिये हैं पर चन्द्रकला में प्रायः समग्ररूप में सभी का अनुसरण मिलता है।

इस नाटिका की प्रस्तावना भी रत्नावली नाटिका के समान 'कथोद्घात' लक्षण वाली है। जब सूत्रधार अपनी भार्या से—'चिराधिगतं वस्तु' आदि पद्य कहता है तो उसके इसी कथन को दोहराते हुए रत्नावली यौगन्धरायण की तरह महामन्त्री सुबुद्धि का प्रवेश होता है। यह प्रस्तावना ठीक रत्नावली नाटिका की तरह ही रखी गयी है।

चन्द्रकला के नायक महाराज चित्ररथदेव धीरललित प्रकार के हैं जिन्हें समग्र शत्रुमण्डल अवसन्न हो जाने से अब पराक्रम का अवसर प्राप्त ही नहीं है। महाराज की इसी अकण्टक शासन की स्थिति का उनके मित्र रसालक ने अनेकशः उल्लेख किया है। प्रस्तुत नाटिका में इनकी कलासक्त प्रकृति को कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है जो अनेक संयोग एवं वियोग की शृङ्गारिकदशाओं में फूट पड़ती है और इनका यही काव्यप्रेम इनकी मृदु-प्रकृति के साथ मणिकाञ्चन संयोग बन गया है।

नायिका चन्द्रकला परकीया, कन्या एवं मुग्धा है। जिनके समग्र चित्रण का नाटिका में व्यवस्थित उपक्रम हुआ है। इसकी अन्य नायिका महारानी वसन्तलेखा स्वकीया, मध्या और प्रगल्भा हैं जो नायक को तर्जित करती है तथा अनेक अवसरों पर मान धारण करती हुई दिखाई देती है। (और मानिनी स्वरूप को प्रकट करती है।)

नाटिका की वृत्ति कैशिकी है जिसका शृङ्गाररसबहुल प्रयोग परिलक्षित होता है। कैशिकी के नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट एवं नर्मगर्भ नामक प्रकारों का यथास्थान कथावस्तु की प्रकृति को ध्यान में रख कर विनियोजन किया गया है। प्रस्तुत नाटिका में सर्वत्र प्रसादगुण और वैदर्भी-रीति के दर्शन सहज प्राप्य हैं तथा विष्कम्भक आदि का यथावसर लक्षणानुसारी प्रयोग भी मिलता है।

यह हम पहिले अनेकबार बतला आये हैं कि प्रस्तुत नाटिका रत्नावली के आदर्श पर अधिक चलती है। यहाँ हम कुछ ऐसे रमणीयपद्यों को प्रस्तुत कर रहे हैं जो इस नाटिका में ग्रथित हैं :—

चन्द्रकला में प्रस्तुत बघेरे के वर्णन की ये पंक्तियां काव्यसौष्ठव के साथ स्पष्ट चित्र का सशक्त प्रस्तुतीकरण है :—

'लाङ्गूलेनाभिहत्य·······तरक्षुः। (चन्द्र० २।४)

तथा—

'उदस्यैकं पादं·······परितः। (वही २।६)'

निम्न (दो) पद्यों में रात्रि के अंधकार का वर्णन अतिशय आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है :—

'आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयै·······

·····तमालमलिनंच्छायेव सर्वा दिशः ॥' (च० कला० ३।१३)

तथा—

'आलोकाय भवन्ति न व्रततयो·········

·······तमसा संहृत्य नीतं वलात्' ॥ (च० कला० ३।१४)

नायिका के सौन्दर्य और चेष्टाओं का अनेकशः वर्णन काव्य के रमणीय सन्निवेश को प्रकट करता है। कुछ हृदयस्पर्शी पद्य इस प्रकार हैं—

(क) 'सा दृष्टिः········

···· · वेधसः ॥' (च० कला० १।७)

(ख) 'अब्जद्वन्द्वं········

···· शीतद्युतेर्मण्डलः।' (च० क० १।१३)

(ग) विम्बस्यासुकृतेन·······

··· ··· निर्मितम् ॥ (च० क० ३।१६)

(घ) असावन्तश्चञ्चद् ·· ···

सुमुखि ते ॥ (च० क० १।१७)

महाराज चित्ररथदेव के प्रिया के प्रति उद्‌गार निम्न पद्यों में साकार हो उठे हैं।

'वैलक्ष्यस्य भवत्यसाववसर·······

········निर्वापय ॥ (च० क० ३।१८)

तथा—

गीतं कर्णपुटद्वयेन······

·······नैवासवः ॥ (च० क० ४।१)

वसन्त की मन्द मन्द वयार का चन्द्रकला नाटिका की प्रस्तावना में किया गया निम्न वर्णन काव्य के माधुर्यगुण को जहाँ पूर्णतः समाविष्ट किये हैं वही विश्वनाथ कविराज की उदात्त साहित्यिक रुचि को भी स्पष्ट करता है।

यथा—

'लताकुञ्जं गुञ्जन्······

······ किरति मकरन्दं दिशि [1]दिशि ॥ (च० क० १।३)

---

१. यहाँ स्थानाभाव से सम्पूर्ण पद्य एवं उनके अनुवाद को नहीं दिया जा रहा है केवल स्थाननिर्देश कर दिया है। कृपया निर्दिष्ट स्थान पर समग्र पद्य एवं उनके अनुवाद देखिये।

इस प्रकार चन्द्रकला नाटिका साहित्य के विदग्ध विद्वानों और साहित्य अनुशीलन कर्त्ता संशोधकों के लिए मूल्यवान् कृति है जिसका विश्वनाथ कविराज की साहित्यरचना का पारम्परिक-स्तर स्थापित करने में पर्याप्त महत्व है।

साहित्यदर्पण में प्राप्त चन्द्रकला के उद्धरण

चन्द्रकला नाटिका को देखने पर विद्वज्जन (स्वयं) पाएंगे कि इसके काव्यसौष्ठव से उद्वेलित होकर ही विश्वनाथ कविराज ने बार-बार इसी कें विविध प्रसंगों से साहित्यदर्पण' में अधिक उद्धरण लिए। साहित्यदर्पण में 'चन्द्रकला' के नामोल्लेखपूर्वक किये गये उद्धरण निम्न हैं :—

(१) 'अङ्गानि खेदयसि किम्' (च० क० १।१७ तथा सा० द० परि० ६।१९१)

(२) तारुण्यस्य विलास:....(च० क० १।९ सा० द० परि० ३।१६)

(३) हसति परितोषरहितं....(च० क० १।१५ सा० द० परि० ६।१८३)

(४) तए संहरिज्जइ (च० क० २।१३ सा० द० ६।१८४)

इसके अतिरिक्त निम्न उद्धरण भी साहित्यदर्पण में चन्द्रकला नाटिका से विश्वनाथ कविराज ने लिए हैं जिन्हें केवल 'यथा मम' लिखकर निर्दिष्ट किया गया है या फिर केवल पद्य उद्धृत कर दिया गया है। ये निम्न है :—

(क) लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलि।

(च० क० १।३ सा० द० परि० ८।३ पर उद्धृत)

(ख) एसो ससहरबिंबो ...।

(च० क० २।८ सा० द० परि० ७।२९ पर ,,)

(ग) मूर्द्धव्याधूयमानध्वनदमर ...।

(च० क० ४।५ सा० द० परि० ७।१६ पर ,,)

(घ) भ्रातर्द्विरेफ भ्रमता भवता ...।

(च० क० ३।९ सा० द० परि० ३।१६० पर ,,)

(ङ) लाङ्गूलेनाभिहत्य.... ।

(च० क० २।४ सा० द० परि० १०।९२ पर ,,)

(च) मध्येन तनुमध्या मे ..।

(च० ३।१७ सा० द० परि० १०।८६ पर ,,)

(छ) असावन्तश्चञ्चद् ...॥

(च० क० १।१८ सा० द० परि० ६।१८४ पर ,,)

(ज) वसन्तलेखैकनिबद्धभावं ...।

(च० क० १।८ सा० द० परि० १०।५० पर ,,)

(झ) सह कुसुमकदम्बैः ··· ॥

(च० क० १०।५५ सा० द० परि० १०।५५ पर „)

इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण में चन्द्रकला नाटिका की कुछ गद्यपंक्तियाँ भी उद्धृत की गयी हैं। (तदर्थं दर्पण के ६ परि० की १४२, १८४, १७७ तथा १९१ कारिका की वृत्ति और उदाहरण अवलोकनार्ह हैं।) कुछ विद्वानों ने समग्र चन्द्रकला का अवलोकन न करने के कारण 'मूर्द्धव्या घूयमान' इत्यादि पद्य को उनकी किसी अन्य नाट्यकृति की नान्दी निरूपित कर डाला तथा अन्य विद्वानों ने इसी तरह के पद्यों से उनके शैव या शाक्त होने की ही पुष्टि कर डाली। चन्द्रकला नाटिका में प्राप्त भारतवाक्य या प्रशस्ति को साहित्यदर्पण में प्रभावती नाटिका की प्रशस्ति बतलाया गया है परन्तु यह भी सम्भव है कि कविराज ने दोनों ही नाटिका के समानकर्तृत्व को बतलाने के हेतु एक ही प्रशस्ति लिखी हो [और जिसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया हो]।

प्रस्तुत संस्करण

अब चन्द्रकला के हिन्दी व्याख्यान के विषय में दो शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा। यही हर्ष का विषय है कि चन्द्रकला-नाटिका मूलसंस्कृत एवं हिन्दी व्याख्यानात्मक अनुवाद के साथ प्रकाशन हो रहा है। मूल के अनुवाद में यथासम्भव ग्रन्थकार के आशय को प्रस्तुत करने का प्रयास करने के अति-रिक्त एक स्वतन्त्र अनुवाद जैसा आनन्द भी पाठकों को मिलेगा यदि वे केवल हिन्दी भाग ही देखें। इसमें यथाशक्य मूलसंस्कृत को शुद्ध रखने का प्रयास किया गया है और कहीं-कहीं असावधानी से छूट जाने वाली मुद्रणा-शुद्धियों को 'शुद्धिपत्र' में दे दिया गया है। हिन्दी व्याख्यान में कुछ खटकने वाली अशुद्धियाँ रह गयी थी जिनका यथास्थान शुद्धिपत्र में निवेश कर दिया है किन्तु फिर भी कुछ स्थान ऐसे अवश्य छूट गये होंगे जो अशुद्ध होंगे। ऐसे स्थानों को बतलाना और अनुवाद के किसी अंश या भूमिका में प्रस्तुत किन्हीं तथ्यों पर महत्वपूर्ण सुझाव स्वागतार्ह होंगे तथा उपयुक्त होने पर उनका अगले संस्करण में अवश्य निवेश किया जाएगा। सामान्य अशु-द्धियों को यथाशक्य हमने छोड़ दिया है (जो प्रायः हिन्दी व्याख्यान में हैं) क्योंकि उनसे शुद्धिपत्र व्यर्थ ही बढ़ जाता। अन्त में अकारादिक्रम से पद्यानु-क्रमणिका भी पाठकों के सुविधार्थ जोड़ दी गयी है।

आभार

चन्द्रकला के प्रस्तुत संस्करण में लोचन टीका के साथ प्रकाशित साहित्यदर्पण के लाहौरसंस्करण (सम्पा० करुणाकर 'कर', १९३८)

तथा बम्बई संस्करण का पर्याप्त उपयोग किया गया है तदर्थ इनके सम्पादकों का आभारी हूँ। ओडीसा स्टेट म्यूजियम में विद्यमान चन्द्रकला-नाटिका की हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि से भी पर्याप्त सहायता मिली जिसकी मित्रवर प्रो० प्रल्हाद प्रधान, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उत्कलविश्वविद्यालय ने भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में समय-समय पर अनेक सूचनाएँ प्रदान की तदर्थं मैं इन महानुभावों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। 'चन्द्रकला' के सम्पादन एवं अनुवाद-लेखन की प्रेरणा देने और अनेक-विध सहायता के कारण डॉ० हीरालाल जी जैन, अध्यक्ष, संस्कृतपालि प्राकृत विभाग जवलपुर विश्वविद्यालय का भी अनुगृहीत हूँ।

अन्त में चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी के सञ्चालक श्रीकृष्णदास जी गुप्त का भी आभारी हूँ जो अलभ्यग्रन्थों को प्रकाशित करने में सदा अग्रणी रहते हैं। इसी संस्था के उदीयमान वन्धुद्वय श्रीमोहनदास जी एवं श्रीविट्ठलदास जी गुप्त का भी इस सन्दर्भ में आभार आवश्यक है। ग्रन्थ के सुव्यवस्थित एवं शुद्ध मुद्रण में सुहृद्वर पं० रामचन्द्रजी झा व्याकरणाचार्य का सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। यदि मेरे इस प्रयास को विद्वन्मण्डली में थोड़ा भी उपयोगी समझा गया तो अपना परिश्रम सफल मानकर संस्कृतसाहित्य के अन्य महत्वपूर्ण प्रसूनों को प्रस्तुत करने का और उद्योग करता रहूँगा। दूरस्थ प्रदेश वाराणसी में पुस्तक के मुद्रित होने से इसमें अनेक अनवधानजन्य त्रुटियाँ सम्भव हैं जिन्हें सुधारते हुए सुधी पाठक को प्रकृतग्रन्थ का परिशीलन करने की निम्न अभ्यर्थना करता हूँ। इति शुभम्।

विसर्गेषु वर्णेषु भाषासु पङ्क्ति-
ष्वनुस्वारसंयोगदैर्घ्येषु यद्यत्।
प्रणष्टं प्रमादेन हस्तस्य दोषात्
समालोच्य सर्वं सहन्तां महान्तः ॥ इति।

नरसिंहगढ़ — सुधीजन कृपाकाङ्क्षी
दि० २६ जनवरी १९६७ — **बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री**

द्वितीयसंस्करण की प्रस्तावना

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि चन्द्रकला-नाटिका का प्रथमसंस्करण समाप्त हो गया तथा द्वितीयसंस्करण के प्रकाशन का समय आ गया। इस द्वितीय संस्करण में यत्र तत्र हिन्दी व्याख्या में संशोधन एवं परिवर्धन भी कर दिया है। आशा है सुधीजन, अभ्यासक एवं सामान्य पाठकों का इससे पूर्व से भी अधिक हित होगा तथा वे और भी प्रसन्नता से इसका भी उसी प्रकार स्वागत करेंगे जो पिछले संस्करण का रहा।

शाजापुर (मध्यप्रदेश)
दि० २६ जनवरी ८३

सुधीजन कृपाकांक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

पात्रपरिचयः

पुरुष-पात्राणि

सूत्रधारः—नाटकीयकथायाः प्रस्तावकः प्रधानः नटः ।

नटी—सूत्रधार-भार्या ।

चित्ररथदेवः—नायकः, महाराजः ।

सुबुद्धिः—चित्ररथदेवस्य प्रधानः सचिवः ।

रसालकः—विदूषकः, नर्मसचिवः ।

कञ्चुकी—

शबरः—प्रमदोद्यानस्य संरक्षकः राजकीयसेवकः ।

बन्दिनौ—पाण्ड्यराजस्य सन्देशहारकौ दूतौ ।

स्त्री-पात्राणि

लक्ष्मी—विष्णुपत्नी ।

वसन्तलेखा—प्रधानमहिषी, पाण्ड्यराज-दुहिता ।

चन्द्रकला—पाण्ड्यराजस्य द्वितीया दुहिता, नायिका ।

रतिकला —
माधविका— } महादेव्याः विश्वासभाजनं दासीयुगलम् ।

सुनन्दना—चन्द्रकलायाः सखी ।

तथा परिचारिका प्रभृतयः ।

नाटिकायामुल्लिखितानि पात्राणि

पाण्ड्येश्वरः—पाण्ड्यराजः ।

विक्रमाभरणः—चित्ररथदेवस्य सेनानायकः ।

शबरस्वामी—शबराधिपतिः ।

मेदिनी—चित्ररथदेवस्यापरा भार्या ।

पद्यानामकाराद्यनुक्रमणिका

—००:०:००—

श्रीविश्वनाथकविराजप्रणीता

चन्द्रकला-नाटिका

'प्रभावली' हिन्दीव्याख्योपेता

—:०:—

अथ प्रथमोऽङ्कः

(नान्दी)

जीयासुः शफरायमाणशशभृल्लेखाः स्खलत्कैरव-
व्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिषादुत्क्षिप्तनीलांशुकाः ।
बिभ्रत्यो[1] गिरिजाकटाक्षपतनादादित्यजासङ्गमं
नृत्यद्भर्गकिरीटकोटिचपलाः स्वर्गापगावीचयः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, इतस्तावत् ।

नटी—एस म्हि । आणवेदु अज्जो । [एषास्मि । आज्ञापयत्वार्यः ।]

(नान्दी)

आकाशगंगा की वे लहरें आपको विजय प्रदान करें जिनमें कुमुदिनी दल से दूर हट जाने के कारण उद्भ्रान्त भौंरों का समूह पार्वती के कटाक्ष से उत्पन्न होने वाली नीली किरणों सा ऊपर उठ रहा है और नृत्य करने वाले भगवान् शिव (भर्ग) के मस्तक पर स्थित चन्द्रकला जिनमें एक (छोटी) शफरी के समान उच्च स्थान पर स्थित होने के कारण यह (गंगा) शुभ्र होकर भी यमुना के सङ्गम को धारण करती-सी प्रतीत हो रही है ॥ १ ॥

(नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—अच्छा अब और अधिक विस्तार मत कीजिये । (नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये, जरा इधर आओ ।

नटी—यह आयी । आर्य, आज्ञा दीजिये ।

---

१. विन्दन्त्यो—मू० पाठः ।

सूत्रधारः—आर्ये पश्य पश्य। अयमिदानीं यवनपुरपुरन्ध्रीवर्ग-निर्गलदविरलनयनजलधारानिर्धौतगिरिकन्दरो निजभुजप्रतापतपनसमुत्सादितारातिे-तिमिरनिकरश्चोल-कोशल-बङ्ग-हावङ्ग - कोच-काञ्ची-गौड - डाहालमत्स्य - म्लेच्छ-लाट-कर्णाटप्रमुखराजराजीवराजिरजनीकरः सकलगुणरत्न-रत्नाकरो निखिला नवद्यविद्यानिधिरर्थिकुलकल्पद्रुमः सभामध्यमध्यास्ते गजपतिर्महाराजाधिराजस्त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलः श्रीमान्निश्शङ्कभानुदेवः।

आच्छन्ने घर्मधाम्नि प्रखरहयक्षुरक्षुण्णपृथ्वीरजोभिः
क्षिप्ते नक्षत्रलक्षे नभसि करिकरोद्धूतगङ्गापयोभिः।
ज्योत्स्नाभिः कीर्तिचन्द्रे धवलयति जगज्जैत्रयात्रावकाशे
गौडक्ष्मापाललक्ष्मीर्व्यरचयदचिरादेव यस्याभिसारम् ॥२॥

तदस्माकमिदानीं चतुर्दशभाषाविलासिनोभुजङ्गमहाकविनिखिला-

सूत्रधार—आर्ये, देखो देखो ! हमारे सम्मुख सभा के बीच आज गजपति महाराजाधिराज त्रिकलिंगभूमण्डलेन्द्र निश्शङ्क भानुदेव स्थित हैं। जिन्होंने अपने प्रताप से यवनराज के रनिवास और महलों में रहने वाली कामिनियों की आँखों से निरन्तर बहने वाली अश्रुधाराओं के द्वारा पर्वत की कन्दराओं को धुलवाया है, जिसने अपनी भुजाओं के प्रतापरूपी सूर्य के द्वारा शत्रुरूप अन्धकार के संघात को हटा दिया है, जिस रामचन्द्र ने चोल, कोशल, वंग, हावङ्ग, कोच, काञ्ची, गौड, डाहाल, मत्स्य, म्लेच्छ, लाट, कार्णाट आदि प्रमुख राजकमलों को संकुचित कर दिया है, समग्र गुणरत्नों की आधारभूमि होने के कारण जो रत्नाकर के सदृश है और याचकवर्ग के लिये कल्पवृक्ष के समान उदार एवं समग्र निर्मल विद्याओं का जो आगार है।

दिग्विजययात्रा में गौडेश्वर पर चढ़ाई करते समय जिनकी सेना के अश्वों के खुरों से पीटी गयी पृथ्वी से उठने वाली धूलि से सूर्य के ढँक जाने पर और इनके सैन्यगजों की सूंडों से गंगाजल की फुहारें उड़ाने के कारण आकाश में सहस्रों नक्षत्रों के विकीर्ण हो जाने से जब कीर्तिरूप चन्द्र की धवलिमा (चन्द्रिका) चारों ओर विस्तीर्ण हो गयी तो तुरन्त (ऐसे सुअवसर पर) गौडेश्वर की विजयलक्ष्मी ने इनकी ओर अपना अभिसार आरम्भ कर दिया ॥ २ ॥

अतएव अब हमारे लिये गजपति साम्राज्य के सान्धिविग्रहिक श्रीविश्व-

नवद्यविद्यामहोदधिराजहंसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मनः श्रीमन्नाराय-णचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतसो निजजनकसमधिगतनिखिलसाहित्य तत्त्वस्य नाट्यवेददीक्षागुरोः सहृदयैकबान्धवस्य गजपतिमहाराजसान्धि-विग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजस्य कृतिमभिनवां चन्द्रकला नाम नाटिकामभिनेतुमुचितोऽयं समयः।

नटी—आणवेदु अज्जो कदमं समअं उद्दिसिय गाइस्सं। [आज्ञापयत्वार्यः कतमं समयमुद्दिश्य गास्यामि।]

सूत्राधारः—आर्ये, अमुमेवाचिरोपस्थितं केतकीपरिमलमिलितमधु-करनिकरझङ्कारमुखरितदिशाभोगं मलयाचलदरीगलितनिर्झरसलिल-शीकरशिशिरधीरमारुतचूतकाननं दरदलितचूताङ्कुरास्वादसुन्दरमदकल-कण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकर्णज्वरं वसन्तसमयम्। इह हि—

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।

नाथ कविराज के द्वारा निर्मित चन्द्रकला नाटिका का अभिनय प्रस्तुत करने का यही उचित समय है। ये विश्वनाथ चौदह भाषारूपी अङ्गनाओं के प्रियतम (भुजङ्ग) हैं, इनके पूज्य पिता समस्त विद्यारूपी महार्णव में राजहंस के समान विहार करने वाले चन्द्रशेखर महापात्र हैं और जिनका मन प्रपितामह श्रीनारायण के चरणारविन्द का मधुकर हो रहा है, जिन्होंने अपने पूज्य पिताजी से ही समग्र साहित्य विद्या का अध्ययन किया, जिन्होंने नाट्यशास्त्र के तात्त्विक अध्ययनरूप व्रत की दीक्षा ले रखी है और जो सहृदय जन के एकमात्र अवलम्बन बने हुए हैं।

नटी—अच्छा, तो इस अवसर पर अब आप मुझे किस ऋतु के गीत प्रस्तुत करने की आज्ञा दे रहे हैं।

सूत्रधार—आर्ये, अभी ही आरम्भ होनेवाली इसी वसन्तऋतु का गीत सुनाओ जिसमें केतकी के परिमल का उपभोग करने के लिए एकत्रित मधु-करों की झंकार से दिशाओं के अन्तराल मुखरित हो उठे हैं, जिसमें मलयाचल की कन्दराओं से निकलने वाले जलस्रोतों की फुहारों से शीतल रहने वाले पवन के मन्द-मन्द संचार से युक्त आम्र के वन हो रहे हैं और आम्रमंजरी का कुरेदकर स्वाद लेने वाले कोकिलों के कण्ठ से निकलने वाले सुरीले सुरों ने कामिजन के कानों में ज्वर उत्पन्न कर डाला है। इस समय—

गुंजार करते हुए मदमत्त मधुकरों के समूह से सम्पृक्त हो लताकुंजो को चंचल करता हुआ, स्पर्श मात्र से शरीर में अनंग का संचार करता हुआ,

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥ ३ ॥

(नटी—गायति)

अमुअंतो वि णिअंतं कुंदलदं सुइर-उबहुत्तं ।
चुंबइ रसाल-वल्लीं अहिणअ-महुगंधिअं भमरो ॥ ४ ॥

[अमुचन्नपि विजां तां कुन्दलतां सुचिरमुपभुक्ताम् ।
चुम्बति रसालवल्लीम् अभिनवमधुगन्धिकां भ्रमरः ॥]

सूत्रधारः—(सशिरःकम्पम्) आर्ये, साधु गीतम् । एवं खलु शिथिलितकुन्दलतानुरागातिशयमभिनवप्रफुल्लसहकार-वल्ली - निबद्धप्रेमाणं मधुकरं वर्णयन्ती सत्यमाह भवती । तथाहि—

चिरादधिगतं वस्तु रम्यमप्यवधारयत् ।
पुरः प्रतिवनं वीक्ष्य मनस्तदनुधावति ॥ ५ ॥

(नेपथ्ये)

साधु ! शैलूष साधु !! (चिरादधिगतमित्यादि पठति)

विकसित कमल के दलों को धीरे-धीरे विकंपित कर पराग लेने के कारण मन्दगति से संचार करने वाला यह मलयपवन पुष्परस को दसों दिशाओं में छिटका रहा है ॥ ३ ॥

नटी—(गाती है)

आज यह भौंरा चिरकाल तक उपभोग की गई एवं इष्ट कुन्दलता को बिना छोड़े हुए नवगन्ध से सुवासित इस आम्रवल्ली का चुम्बन कर रहा है ॥ ४ ॥

सूत्रधार—(मस्तक हिलाकर स्वीकृति देते हुए) ठीक ! आर्ये, तुमने अच्छा गीत गाया जिसमें सदा सन्निहित कुन्दलता के प्रति अपना अनुराग शिथिल कर नवविकसित आम्रवल्लरी में (भी) अपना अनुराग संसक्त कर देने वाले भौंरे का एकदम सत्य वर्णन कर डाला । क्योंकि,

(किसी) रमणीय पदार्थ का चिरकाल तक उपभोग (प्राप्त) रहने पर भी अपने सम्मुख किसी अन्य नवीन वस्तु को देखने पर मन उसी ओर भागने लगता है ॥ ५ ॥

(नेपथ्य में)

ठीक ! बिलकुल ठीक कहा है नट, तुमने । ('चिरादधिगतां' (१।५) इत्यादि को दुहराता है ।)

सूत्र—(आकर्ण्य) आर्ये, अयमसावितः प्राप्त एव क्षोणीभुजश्चित्ररथदेवस्य सुबुद्धिनामा प्रियामात्यः। तदावामपि समनन्तरकरणीयाय सज्जीभवावः। (इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना।

(ततः प्रविशति सुबुद्धिः)

सुबुद्धिः—(साधु शैलूषेत्यादि नेपथ्योक्तं पठित्वा) अनेन खलु चन्द्रकलायां भर्तुरनुरागबन्धः स्यान्नवेति चिन्तयतो मम दत्तमेव प्रतिवचनं भवता। तथा ह्येषा कर्णाटविजयार्थं प्रस्थितेन विक्रमाभरणाख्येन सेनापतिना मध्येमार्गं कुतोऽप्यधिगत्य निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मीरिव विग्रहवतीति राजवंशजेयमिति कथयित्वा मत्परितोषकाङ्क्षिणा मदन्तिकं प्रहिता। मया चात्यन्तसुलक्षणेति निरूप्यमाणा। तत्काले च—

"यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति।
लक्ष्मीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति॥ ६॥"

इत्यमानुषीं गिरमाकर्ण्य तत्परिणयेन भर्तुरुपचयं महान्तं चिन्तयता

सूत्रधार—(सुनकर) आर्ये, महाराज चित्ररथदेव के सुबुद्धि नामक महामन्त्री इधर आ पहुँचे हैं; इसलिये अब हमें भी अपने अगले कार्यों को करने के लिये तैयार होना चाहिए। (दोनों का] रंगभूमि से] प्रस्थान)

प्रस्तावना।

(तब सुबुद्धि प्रवेश करते हैं)

सुबुद्धि—(ठीक है नट, इत्यादि कहकर) और आज अपने इसी कथन के द्वारा तुमने मेरी ऐसी चिन्ता—कि हमारे स्वामी का चन्द्रकला में अनुराग हो सकेगा या नहीं—का उत्तर दे दिया है। क्योंकि कर्णाट देश पर विजय हेतु प्रस्थान करते हुए हमारे विक्रमाभरण सेनापति को यह कन्या रास्ते में प्राप्त हो गयी थी और इसके अनुपम सौन्दर्य और शरीर के सुलक्षणों को ध्यान में रखते हुए इसने उच्चवंशीय कन्या एवं सशरीर लक्ष्मी समझकर इस (कन्या) को मेरे समीप भिजवा दिया। इसके सुलक्षणों को देखकर जब मैं चिन्ता करने लगा तभी मुझे एक दिव्यवाणी सुनाई दी—

"इस कन्या का पृथ्वी पर जो भूमिपति पाणिग्रहण करेगा तभी लक्ष्मी स्वयं प्रकट होगी और उसे अभीष्ट वरदान प्रदान करेगी'॥ ६॥

तब इस अमर्त्य वाणी को सुनकर मैंने विचार किया कि यदि इस कन्या

पाण्ड्यराजदुहितुर्महादेव्या भयेन स्वयं महाराजेनैनां परिणाययितुमशक्नुवतान्तःपुरचारिणीमिमामवलोक्य स्वयमेव परिग्रहीष्यति स्वामीति विचिन्त्य मम वंशजेयं सखीपदे स्थापयित्वा परिपालनीयेति सादरं समर्पिता देव्याः। (विचिन्त्य) तत् कुतः पुनरिदानीमाकर्णयामो वृत्तान्तमेतस्याः। कथं चिरादाहूयमानापि नाभिवर्तत मामन्तःपुरचारिणी सुनन्दना।

(सुनन्दना प्रविश्य)

सुनन्दना—अज्ज, वंदामि। [आर्य, वन्दे।]

सुबुद्धिः—सुनन्दने, कथय चन्द्रकलावृत्तान्तं तूर्णमिदानीम्।

सुनन्दना—अज्ज, कधिदुं भिएमि। [आर्य, कथयितुं बिभेमि।]

सुबुद्धिः—कथय। न खलु सम्भावय रहस्योद्भेदमस्मादृशेषु।

सुनन्दना—पुव्वं क्खु कधिदं ज्जेव मए अज्जस्स। इअं क्खु दंसणमेत्तकेणज्जेव्व महाराआअणुराअबंधणं भविस्सदित्ति आसंकंतीए वि अज्जगोरव-णिअंतिदाए देईए पिअसहिपदे ट्ठाइदा वट्टइ। दाणिं अ अदि-

---

से हमारे महाराज का विवाह हो जाए तो (अनायास ही) उन्हें महान् अभ्युदय की उपलब्धि हो सकती है परन्तु पाण्ड्यदेश के महाराजा की पुत्री एवं पट्टमहिषी (महारानी) के भय से इसका महाराज के साथ (सहसा) विवाह करवा देने में स्वयं की असमर्थता पाकर मैंने (अभी) इस (कन्या) को महारानी के ही रनिवास में अपनी सम्बन्धिनी बतलाकर रखवा दिया है। ऐसा करने से यह अनायास ही अन्तःपुर में रहने से महाराज की दृष्टि में जब पड़ जाएगी तो वे स्वयं इससे विवाह कर लेंगे। (विचारकर) तो अब मैं इस समाचार को कहाँ से ज्ञात करूँ। (और) आज बुलवाने पर भी उस अन्तःपुर की परिचारिका सुनन्दना को आने में इतना विलम्ब क्यों हो रहा है!

(सुनन्दना प्रवेश करते हुए)

सुनन्दना—आर्य प्रणाम करती हूँ।

सुबुद्धि—सुनन्दना, चन्द्रकलाविषयक समाचारों को शीघ्र बतलाओ।

सुनन्दना—आर्य, मुझे समाचार बतलाने में भय लगता है।

सुबुद्धि—तुम बतलाओ। हमारे पास से तुम्हारा कोई रहस्य प्रकट नहीं हो सकता है।

सुनन्दचा—अच्छा! इतना तो मैं आपको बतला ही चुकी हूँ कि 'यदि उसे एक बार भी महाराज देख लेंगे तो इसके सौन्दर्य पर निश्चित ही मुग्ध होकर रहेंगे' ऐसी आशंका महारानी के हृदय में बनी हुई है, परन्तु

पउत्तेण गोविज्जमाणा वि अदक्किदेण देइ समीवमुअगच्छंतस्स महाराअस्स लोंयणगोअरे पडिदा। [पूर्वं खलु कथितमेव मया आर्याय। इयं खलु दर्शनमात्रकेणैव महाराजानुरागबन्धनं भविष्यतीत्याशङ्कन्त्या आर्यगौरव-नियन्त्रितया देव्या प्रियसखीपदे स्थापिता वर्तते। इदानीञ्चातिप्रयत्नेन गोपाय्यमानापि अतर्कितेन देवीसमीपमुपगच्छतः महाराजस्य लोचनगोचरे पतिता।]

सुबुद्धिः—ततस्ततः।

सुनन्दना—तदो इअं मत्थरतरलतारअं महाराअं आलोअंती ससंभमं देईपरिअणेहिं दूरदो णीदा। [तत इयं मन्थरतरलतारकं महाराजं आलोकयन्ती ससम्भ्रमं देवीपरिजनैर्दूरतो नीता।]

सुबुद्धिः—ततस्ततः।

सुनन्दना—तदो पहुदि देईभयादो बाहिजतिरोहिद-विआरो अहंणिसं मदणाणल-भमिदंतरो वट्टदि महाराओ। [ततः प्रभृति देवीभयात् बाह्यतिरोहितविकारोऽहर्निशं मदनानलभ्रमितान्तरो वर्तते महाराजः।]

सुबुद्धिः—भद्रे, तत्कथं महाराजस्य त्वरितमनया सह सङ्गमो भवति।

सुनन्दना—अज्ज मह उवायेण समुप्पण्णोज्जेव। [आर्य, ममोपायेन समुत्पन्नः एव।]

केवल आपके गुणशाली व्यक्तित्व और भावनाओं को आदर देने की भावना से वह चन्द्रकला को अपनी प्रिय सखी बनाये हुए है और उसे बड़े प्रयत्न से छिपाकर भी (इसी कारण उसने) रखा भी है। पर अभी एक बार जब महाराज सहसा महारानी से मिलने को रनिवास में चले आ रहे थे तो यह अचानक उनकी दृष्टि में (वहीं यह) आ ही गयी।

सुबुद्धि—तब फिर?

सुनन्दना—तब इसे अपने नेत्रों से एकटक महाराज को निहारते देखकर महारानी की परिचारिकाओं ने वहाँ से (तुरन्त) उसे हटाकर कहीं दूर भेज दिया।

सुबुद्धि—तब फिर?

सुनन्दना—तभी से महाराज अपने विकारों को ऊपर से दबाकर महारानी से भयभीत होते हुए दिन-रात कामानल से भ्रमितहृदय हो रहे हैं।

सुबुद्धि—तो भद्रे, अब यह भी बतलाओ कि इसके साथ महाराज का शीघ्र मिलन कैसे हो सकता है।

सुनन्दना—आर्य, वह तो मेरे ही एक उपाय से अब शीघ्र होने जा रहा है।

सुबुद्धिः—कः पुनरुपायस्ते ?

सुनन्दना—अज्ज एण्हिं महाराअ-णिओएण चंदअलां अणुसरिदुं तुवरिदा ण सक्कोमि एत्थ चिरं ठादुं । ता पच्छा कहिस्सं । [आर्य, इदानीं महाराजनियोगेन चन्द्रकलामनुसर्तुं त्वरिता न शक्नोम्यत्र चिरं स्थातुम् । तत् पश्चात् कथयिष्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता)

सुबुद्धिः—(विचिन्त्य) तदहमपीदानीं राज्यानुसन्धानाय गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन् राजा विदूषकश्च)

राजा—(सचिन्तम्)

सा दृष्टिर्नवनीलनीरजमयी वृष्टिस्तदप्याननं
हेलासंमोहनमन्त्रयन्त्रजनिताकृष्टिर्जगच्चेतसः ।
सा भ्रूवल्लिरनङ्गशार्ङ्गधनुषो यष्टिस्तथास्यास्तनु-
र्लावण्यामृतपूरपूरणमयी सृष्टिः परा वेधसः ॥ ७ ॥

सुबुद्धि—क्या तुम्हारा वह उपाय मैं जान सकता हूँ ?

सुनन्दना—आर्य इस समय मैं महाराज के आदेश से चन्द्रकला का अनुसरण करने में लगी हूँ और शीघ्रतावश यहाँ अधिक देर तक टिक नहीं सकती इसलिये फिर बतला दूँगी । (जाती है)

सुबुद्धि—(विचार कर) तो मैं भी अब कुछ राजकीय कार्यों को निपटाने के लिये आगे बढ़ूँ । (चला जाता है)

विष्कम्भक ।

(कामविह्वल महाराज का विदूषक के साथ प्रवेश)

राजा—(चिन्तायुक्त होते हुए) उसकी दृष्टि अभिनव नील कमलों की वृष्टि है, सम्पूर्ण भूमण्डल के वासियों के चित्त को उसका मुख सम्मोहन मन्त्र या यन्त्र सा आकृष्ट कर रहा है, उसकी भौंहें कामदेव की धनुषयष्टि हैं तथा उसका कलेवर लावण्य की सुधा से पूर्ण सागर के समान विधाता के निर्माणकौशल की पराकाष्ठा है ॥ ७ ॥

विदूषकः—कहं सुइरोवट्ठिदं पेक्खंतो वि मं ण जाणादि पिअ-वअस्सो ? [कथं सुचिरोपस्थितं पश्यन्नपि मां न जानाति प्रियवयस्यः ।]

राजा—(पुनः 'सा दृष्टिः' इत्यादि १.७ पठति)

विदूषकः—भो वअस्स, कधं एव्वं अणणुभूदपुव्वं अहीरदां आअरंदो अम्हेहिं वि गोपेसि चित्तगदं ।] भो वयस्य, कथमेवमननुभूतपूर्वमधीरत्व-माचरन्नस्मास्वपि गोपायसे चित्तगतम् ।]

राजा—(पुनस्तदेव पठति)

विदूषकः (उच्चैः) जइ अहं रहस्सभेदभाअणं वि ण दे । ता इदो गच्छंमि । [यद्यहं रहस्योद्भेदभाजनमपि न ते : तदितो गच्छामि ।]

राजा—(विलोक्य) कथं समीप एव वर्तते मे प्रियवयस्यो रसालकः । सखे, मया खलु न विदितोऽसि धरणीचिन्तापरवशेन ।

विदूषकः—उप्पाडिदासेसकंडअस्स रज्जपालण-णिउत्तधीसइवस्स कलिद-रत्तिमेत्तकोदूहलस्स ण क्खु दे धरणीचिंदा किं तु तलुणीचिंदा । [उत्पाटिताशेषकण्टकस्य राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य कलितरतिमात्र कौतूहलस्य न खलु ते धरणोचिन्ता किन्तु तरुणीचिन्ता ।]

विदूषक—इस स्थान पर वहुत देर तक खड़े रहने पर भी प्रिय मित्र मुझे क्यों नहीं पहचान रहे हैं ?

राजा—(फिर 'सा दृष्टि' (१.७) इत्यादि कहने लगता है)

विदूषक—अरे मित्र, अधीर चित्त के कारण पहिले न होने वाली इस दशा में आकर भी आप आज मुझसे अपने मन की बात क्यों छिपा रहे हैं ?

राजा—(फिर वही बातें कहने लगता है)

विदूषक—(जोर से) यदि मैं आपका इतना विश्वासपात्र भी नहीं रहा तो फिर अब यहाँ से चला जाऊँगा ।

राजा—(देखकर) अरे मेरे मित्र रसालक, तुम मेरे पास ही हो ! मैंने पृथ्वी के शासन की चिन्ता में निमग्न होने के कारण अभी तक तुम्हें नहीं देखा ।

विदूषक—जिसने अपने सम्पूर्ण शत्रुवर्ग का उच्छेदन कर डाला हो, जिसने राज्यशासन चलाने के लिये मन्त्रिगण की नियुक्ति कर दी हो और अब जिसकी केवल आनन्दविहार में कौतुक करना ही चर्या बन गयी हो ऐसे आपको पृथ्वी के शासन की चिन्ता नहीं है केवल युवती की चिन्ता हो सकती है ।

राजा—आः मिथ्यावादिन्, नीचैः शंस। नीचैः शंस। यतः—

वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः।
प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम् ॥८

विदूषकः—भो वअस्स, सच्चं। जदा पुणो मल्लिआ वि गिह्म-आल-परिणामेण ओसरणंत-महुरसा भोदि, तहा घणकाल-समागमेण अहिप्फुरंतो कदंबवल्लि सो वि अहिलसदि। [भो वयस्य, सत्यम्। यदा पुनः मल्लिकापि ग्रीष्मकालपरिणामेनापसरन् मधुरसा (अमधुरसा ?) भवति, तदा घनकालसमागमेनाभिस्फुरत्कदम्बवल्लीं सोऽप्यभिलषति।]

राजा—सखे, तूष्णीको भव। अलमनेनोपहासेन।

विदूषकः—(सरोषम्) भो वअस्स, ज्जइ दाणिं अहं रहस्सभेदभाअणं पि ण दे ता इदो गच्छह्मि। [भो वयस्य, यदीदानीमहं रहस्यभेदभाजनमपि न ते तदितो गच्छामि।] (इति गन्तुमुपक्रमते)

राजा—(करे धृत्वा) सखे, तिष्ठ तिष्ठ। तद् यथा देवी न जानाति तथा त्वयाचरणीयम्।

विदूषकः—जहा देइ जाणादि तहा एव्वं ज्जेव्व सपामि। [यदा देवी जानाति तदा एवमेव शपामि।] (इति यज्ञोपवीतं स्पृशति) एण्हिं कहेघि दाव। [इदानीं तावत् कथय।]

राजा—अरे मिथ्यावादी, जरा धीरे-धीरे बोल। क्योंकि—

एकमात्र वसन्तलेखा में आसक्त रहने वाला हमारा मन दूसरी कामिनी की ओर कैसे जा सकता है। खिली हुई चमेली के मधुपान में अटका हुआ भौंरा क्या दूसरी लता की अभिलाषा करेगा ? ॥ ८ ॥

विदूषक—मित्र, बात तो ठीक है पर ग्रीष्मकाल के कारण जब चमेली का रस कम हो (या सूख) जाता है तो वर्षा के आने पर वही कदम्बलता को चाहने लगता है।

राजा—मित्र, चुप हो जाओ। व्यर्थ का परिहास बन्द करो।

विदूषक—(क्रोध में भरकर) मित्र, इस समय मैं यदि तुम्हारा इतना विश्वासपात्र भी नहीं रहा तो फिर अब मैं यहाँ से चला जाता हूँ।

राजा—(हाथ पकड़कर रोकते हुए) मित्र, ठहरो ठहरो। अब तुम्हें ऐसे रहना चाहिये जिससे महारानी को कुछ मालूम न होने पाए।

विदूषक—महारानी को न बतलाने की मैं सौगन्ध लेता हूँ (अपने हाथ में यज्ञोपवीत ले लेता है।) अब तो कहिये।

राजा—सखेऽद्य खलु देवीसमीपमुपगच्छता मयान्तःपुरे कापि कन्यका दृष्टा। इयं खलु—

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो ह्रासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्॥ ९॥

विदूषकः—तदो किं ताए पडिवण्णं? [ततः किं तया प्रतिपन्नम्?]

राजा—अनन्तरञ्च—

मुहुः स्मेरापाङ्गं दरविगलिताकुञ्चितपुटं
वितन्वाना दृष्टिं परिमितनिमेषं मयि मनाक्।
अधो विन्यस्यन्ती मुखकमकमुद्भिन्नपुलकम्
क्वचिन्नीता बाला द्रुतमहह देवीपरिजनैः॥१०॥

विदूषकः—तदो किं तए आअरिदं? [ततः किं तया आचरितम्?]

राजा - सखे, किमन्यत्। अनया खलु वध्वा निजगुणसङ्घैर्भृशं समाकृष्टचेतसः प्रसभं हृदये दिवानिशं मे भवति मदनानलो ज्वालितः।

विदूषकः—हिणामहे! ता अविलम्बिदं परिसिय दीहिओच्चिअ-सलिल-कुंभेण णिव्वाएदु एसो वण्ही। [आश्चर्यम्! तदविलम्बितं परिसृत्य दीर्घिकोद्धृतसलिलकुम्भेन निर्वाप्यतामेष वह्निः।]

राजा—मित्र, आज जब मैं महारानी से मिलने रनिवास में जा रहा था तभी वहाँ मैंने एक परम सुन्दरी कन्या देखी।

वह मानो यौवन का विलास, वृद्धिगत लावण्यसम्पत्ति का मधुर हास, पृथ्वी का भूषण और युवकों के मन को आकृष्ट करने वाला वशीकरण मन्त्र है॥ ९॥

विदूषक—तो फिर उस कन्या ने (वहाँ) क्या किया?

राजा—उसने अपनी भौंहों को थोड़ा खिलाकर और ओठों को सिकुड़ाकर मेरी ओर (अपनी) चितवन से थोड़ी देर देखकर ज्योंही फिर अपने रोमाञ्चित मुखकमल को झुका लिया तभी महारानी की दासियाँ वहाँ आ गयीं और उसे वहाँ से दूर हटाकर शीघ्र कहीं ले गयीं॥ १०॥

विदूषक—तब फिर उसने क्या किया?

राजा—मित्र, और क्या हो सकता है। उस कन्या ने अपने विलोभनीय गुणों से हमारे हृदय को अतिशय आकृष्ट कर डाला है और इसी कारण वहाँ बड़े जोर से कामाग्नि जल उठी है।

विदूषक—आश्चर्य! तो फिर जल्दी आगे बढ़कर इस वापिका से जल निकाल कर इस अग्नि को बुझा दीजिये।

राजा—(ईषद् विहस्य) सखे !

परिहाय सुधाधारां तामेव मृगलोचनाम् ।
याति निर्वाणतामेष कथ्यतां कथमन्यथा ।।११।।

विदूषक:—भो वअस्स, ता किं ईरिसावत्थागदेण वि तए एत्तिअं कालं तुण्हीकेण वट्टीअदि । अध को वा चिंतिदो ताए संगमोपाओ ? [भो वयस्य, तत् किमीदृशावस्थागतेनापि त्वया एतावन्तं कालं तूष्णीकेन वृत्यते । अथ को वा चिन्तितस्तस्याः सङ्गमोपायः ?]

राजा—सखे, अनया बद्धसख्यया सुनन्दनया कुसुमापचयव्याजादिदानीमेव लीलोपवनमानीयते तत्रैव महाराजनयनातिथिर्भवतु इति प्रतिज्ञाय[1] ।

विदूषक:—तदा पडिवाणेह्म । एत्थ अ—[ततः प्रतिपालयावः । अत्र च—]

रासी-किदाइँ मरुदा णवखंडकूड-
तुल्लप्पहाइं सहआरप्पसूणणाइं
चित्तं हरंति गुडलाडुअ-सच्चछभाआ-
क्कूरपभिण्णमउला अ असोअगुच्छा ।। १२ ।।

[राशीकृतानि मरुता नवखण्डकूट-
तुल्यप्रभानि सहकारप्रसूननानि ।
चित्तं हरन्ति गुडलड्डुक-स्वच्छभावा-
क्रूरप्रभिन्नमुकुलाश्च अशोकगुच्छाः ।।

राजा—(थोड़ा मुस्कुरा कर) अरे मित्र, उस मृगनयनी रूप अमृतधारा को छोड़कर अन्य किसी (द्रव) पदार्थ से यह आग कैसे शान्त हो सकेगी ।।११।।

विदूषक—मित्र, तो फिर ऐसी दशा में गिर कर इतना समय तुमने चुपचाप क्यों बिता डाला । अरे, उससे मिलने का भी कोई उपाय सोचा है ?

राजा—मित्र, उसी की सखी सुनन्दना ने यह प्रतिज्ञा की है कि वह उसे फूल चुनने के बहाने से इसी उपवन में अभी ले आएगी ।

विदूषक—तो हम प्रतीक्षा करेंगे । क्योंकि यहाँ—

पवन ने ताजी श्रीखण्ड की राशि के समान वर्ण वाले आम्रप्रसूनों को इकट्ठा कर डाला है और गुड़ के मोदक जैसे स्वच्छ रूपवाले ये अशोक गुच्छे भी अपने मुकुलों को शीघ्रता से विकसित करते हुए मन को हर रहे हैं ।।१२।।

---

१. प्रतिगम्य–क० ।

[ततः प्रविशति 'सखि पश्य' इति वदन्ती चन्द्रकला सुनन्दना च]

सुनन्दना—इदो इदो पिअसहिए, [इतः इतः प्रियसखि,]

चन्द्रकला—(दीर्घं निश्वस्य । स्वगतम्) अवि णाम एसो महाराओ पुणो व्वि मे लोअणपहालंकरणं भवे ! [अपि नाम एष महाराजः पुनरपि मे लोचनपथालङ्करणं भवेत् !]

विदूषकः—(अग्रतः अवलोक्य ! साश्चर्यम्) अम्मो कधं एत्थ महिदले सुरकण्णआ परिब्भमेदि ! [आश्चर्यम् । कथमत्र महीतले सुरकन्यका परिभ्रमति ।]

राजा—(सविस्मयमङ्गानि निर्दिश्य) कथमत्र—

अब्जद्वन्द्वमहर्निशं विकसितं सौवर्णमत्राहितं
रम्भास्तम्भयुगं ततश्च पुलिनं लावण्यवारिप्लुतम् ।
तस्मिन्नुन्मदकुम्भिकुम्भयुगलं रत्नैकले[2]खोद्धृतं
राजत्यत्र पुनः कलङ्करहितः शीतद्युतेर्मण्डलः ।। १३ ।।

(विचिन्त्य) नूनमियमन्तर्निहित[3]-मदनविकारा वर्तते । यतः—

(तब 'सखी देखो' कहते हुए सुनन्दना के साथ चन्द्रकला का प्रवेश)

सुनन्दना—प्रिय सखी, इधर आओ इधर ।

चन्द्रकला—(जोर से उसांस खींचकर स्वगत) क्या फिर मेरे नेत्र के पथ को महाराज अलंकृत करेंगे !

विदूषक—(सामने देखकर आश्चर्य से) अरे ! इस वृक्ष के नीचे यह देवकन्या क्यों घूम रही है ।

राजा—(विस्मय के साथ उसके अंगों को दिखलाते हुए) यहाँ यह कैसे—

इसके पृथ्वी पर रखे जाने वाले दोनों पैर सोने के कमल जैसे अहर्निश खिल रहे हैं, दोनों ऊरु कदली के स्तम्भ जैसे दिखाई दे रहे हैं और श्रोणी-प्रदेश लावण्य के जल में डूबे हुए द्वीप के समान लग रहा है, इसके दोनों उरोज उन्मद गजराज के कुम्भ के समान रत्न (के अंशों) को ऊपर उठाए दिख रहे हैं और इसका मुख निष्कलंक चन्द्रमण्डल जैसा सुशोभित हो रहा है ।। १३ ।।

(विचार करते हुए) यह भी निश्चित रूप से अन्तःकरण में काम के विकार लिए हुए है । क्योंकि—

---

१. नाटयन्ति—क० । २. कलेशोद्धृतं—क० । ३. साहित्यदर्पणे तु अन्तः-पीडितेति पाठः ।

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किमपि ।
सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमेवोत्तरं दत्ते ।। १४ ।।

विदूषकः—(चन्द्रकलां निर्दिश्य) भो वअस्स, ता दाणिं इमाए सुधाधाराए णिव्वाविअदु जलिदो मयणाणलो । [भो वयस्य, तदिदानीमनया सुधाधारया निर्वाप्यतां ज्वलितो मदनानलः ।]

राजा—सखे, इदमेवोचितमिदानीम् । तथापि क्षणमिहैव लतान्तरितौ रहसि वृत्तिमालोकयावस्तावदेतस्याः । (इत्युभौ लतान्तरारे प्रविशतः ।)

चन्द्रकला—(दीर्घं निश्वस्य । स्वगतम्) हिअअ हिअअ, तादिस दुल्लह-त्थ-विहिदणिबंधस्स दे समुइदा ईदिसी अवत्था । [हृदय हृदय, तादृशदुर्लभार्थविहितनिर्बन्धस्य तव समुचितेदृश्यवस्था ।]

सुनन्दना—हला चंदअले, इदं क्खु एत्थ त्थोकुन्नदाए केसरलदाए साहाए वट्टदि रमणिज्जं कुसुमं । ता दाणिं उच्चिणोदु एदं पिअसही । [हला चन्द्रकले, इदं खल्वत्र स्तोकोन्नतायाः केसरलतायाः शाखायां वर्तते रमणीयं कुसुमम् । तदिदानीमुच्चिनोतु एतत् प्रियसखी] (इत्युभे माधवीलतायाः कुसुमावचयं नाटयतः) ।

राजा—(निशम्य) सखे शृणु तावत् । चन्द्रकलेति नामास्याः ।

यह विना प्रसन्नता के ही मुस्कराने लगती है, देखी जाने पर देखना नहीं चाहती है और अपनी सखी से सम्भाषण की जाने पर उसका असंगत-सा उत्तर दे रही है ।। १४ ।।

विदूषक—(चन्द्रकला को दिखलाते हुए) तो मित्र, अव इस सुधा की धारा से अपने जलने वाले कामानल को बुझा लीजिये ।

राजा—मित्र, इस समय यही उपयुक्त है फिर भी इन लताओं की ओट में छिपते हुए थोड़ी देर के लिये इनकी मनोभावना देखें ।

(दोनों लताओं की आड़ लेकर छिप जाते हैं ।)

चन्द्रकला—(जोरों से उसांस लेकर । स्वगत (मेरे मन, दुर्लभ पदार्थ की प्राप्ति के लिये हठ करने पर आज तेरी यह दशा उचित ही हुई है ।

सुनन्दना—सखी चन्द्रकले, देखो । केसर लता की इस थोड़ी ऊँची टहनी पर बड़ा सुन्दर पुष्प लगा हुआ है । तुम इसे तो चुन लो । (दोनों माधवी लता के पुष्पों को चुनने लगती हैं ।)

राजा—(सुनकर) मित्र, सुनो । इसका नाम चन्द्रकला है ।

विदूषकः—भो वअस्स, तुमं वि महीमहेसरो। (भो वयस्य, त्वमपि हे महीमहेश्वरः।]

राजा—ततः किम् ?

विदूषकः—ता जुत्तं क्खु दे सिरसि णिधाणं एदाए [तद् युक्तं खलु ते शिरसि निधानमेतस्याः।]

राजा—(ईषद् विहस्य) सखे, कथमीदृशो मादृशानां[1] भागधेयः।

(चन्द्रकला बाहुमुन्नमय्य उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचयं नाटयति)

राजा—(सस्पृहमालोक्य) सखे, पश्य खल्विदानीमेताम्। यतः

दरप्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुतं निपत्य द्रुतकर्बुराभे।

लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैर्न मे कदाचिद् बहिरेति चेतः ॥१५॥

विदूषकः—ता अविलंबिदं केवट्टं प्पवेसिअ उत्तोलिअदु। [तदविलम्बितं कैवर्तं प्रवेश्योत्तलयतु।]

राजा—अहो ! सुबुद्धिता प्रियवयस्यस्य !

सुनन्दना—हला पेक्ख पेक्ख। इअं क्खु उम्मीलंदपरिमलं सहआरपादवं अइरेण ज्जेव आलिंगिस्सदि णवकुसमिदा बालमाहवीलदा।

विदूषक—तो मित्र, तुम भी पृथ्वी के महेश्वर हो।

राजा—तो इससे क्या ?

विदूषक—ऐसा होने पर इसे मस्तक पर धारण करने में औचित्य बन सकेगा।

राजा—(थोड़ा मुस्कुरा कर) मित्र, हमारे जैसे पुरुषों के ऐसे भाग्य कहाँ !

(चन्द्रकला अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर लता की ऊपरी टहनियों पर लगे केसरपुष्पों को चुनने लगती है।)

राजा—(अतृप्त होकर देखते हुए) मित्र, इस समय इसे देखो। क्योंकिमेरा मन इसके किञ्चित् प्रकट होनेवाले एवं तप्त सुवर्ण की आभा वाले उरोज कुम्भों के मूल प्रदेश में स्थित लावण्य के सरोवर में डूब गया है और अब वहाँ से किसी तरह नहीं निकल पा रहा है ॥ १५ ॥

विदूषक—तो फिर किसी दक्ष धीवर को इसमें उतार कर उसे निकलवाइये।

राजा—आपकी बुद्धिमत्ता पर बलिहारी।

सुनन्दना—सखि, जरा इधर देखो इधर। यह बाला माधवीलता अभी-

---

१. भाग्योदयः—क०।

[सखि, पश्य पश्य। इयं खलु उन्मीलत्परिमलं सहकारपादपम् अचिरेणै-वालिङ्गिष्यति नवकुसुमिता बालमाधवी-लता]

(चन्द्रकला सविकारमिव पश्यति)

विदूषकः—भो वअस्स, सुणु दाव साभिप्पाअं क्खु एद वअणं। [भो वयस्य, श्रृणु तावत् । साभिप्रायं खल्वेतद्वचनम् ।]

राजा—न खलु सम्भावयामि मे पुण्यपरिपाकमीदृशम् ।

सुनन्दना—हला, इमाओ णोमालिआए मए उच्चिणिअंते कुसुमाइं। तुए उणए दाए माहवीलदाए उचिणिअंदु । [सखि, अमुष्या नवमालिकाया मया उच्चीयन्ते कुसुमानि । त्वया पुनः तस्या माधवीलताया उच्चीयन्ताम् ।] (इति राजालंकृतां माधवीलतामङ्गुल्या निर्दिशति) ।

चन्द्रकला—जं रोअदि प्पिअसहिए । [यद्रोचते प्रियसख्यै ।] (इति माधवीलतां गच्छन्ती राजानमवलोक्य सचकितव्रीडं नमयन्ती स्तम्भमभि-नीय सानन्दं स्वगतम्) अम्महे ! कधं फलिदो वि मे अमणव्वुत्तिसंभाव-णिज्जो मणोरह-द्दुमो । [आश्चर्यं कथं फलितोऽपि मे अमनोवृत्तिसम्भा-वनीयो मनोरथद्रुमः ।]

राजा—(सहर्षमुपसृत्य) प्रिये, कथय कथय—

अभी कुसुमित हो चुकी है और शीघ्र ही परिमल से सम्पन्न सहकार वृक्ष से आलिंगन करने वाली है ।

(चन्द्रकला उधर विकारपूर्ण दृष्टि से देखने लगती है ।)

विदूषक—मित्र, इसे ध्यान से सुनो । इसका कथन बड़ा अर्थपूर्ण है ।

राजा—मुझे अपने पुण्यों की इस परिणति की सचमुच कोई कल्पना तक नहीं थी ।

सुनन्दना—सखि, यहाँ मैं इस नवमल्लिका के पुष्प चुन रही हूँ (तब तक) तुम उस माधवीलता के पुष्पों को चुनों। (अपनी अंगुली से राजा से युक्त माधवीलता को दिखलाती है) ।

चन्द्रकला—प्रियसखी की जैसी इच्छा हो वही ठीक है । (माधवीलता के समीप जाती हुई वहाँ राजा को देखने पर आश्चर्य और लज्जा से अपना मुँह झुकाकर स्तब्ध होती हुई आनन्दित होकर स्वगत) अरे ! जिस मनोरथ के पूर्ण होने का मन में विश्वास नहीं था वही मेरा मनोरथवृक्ष आज फलित हो रहा है ।

राजा—(आनन्दित होकर समीप आते हुए) प्रिये,

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपेलवानि मुधा ।

(आत्मानं निर्दिश्य)

अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः ॥१६॥

सुनन्दना—(जनान्तिकम्) हला, कधं तुए दंसणमेत्तकेण वि एव्वं वसीकिदो भट्टा । [सखि, कथं त्वया दर्शनमात्रेणापि एवं वशीकृतो भर्त्ता ।]

चन्द्रकला—हला, किं तुए विदह परिहासेहिं अहं उवहसीअदि । [सखि, किं त्वया वितथपरिहास्यैरहं उपहस्यते ।]

राजा—(चन्द्रकलायाः मुखं निर्दिश्य)

असावन्तश्चञ्चद्वि[1]कच-वन-नीलाब्जयुगल-
स्त[2]लस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसङ्[3]घात उपरि ।
विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः
कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ते ॥ १७ ॥

चन्द्रकला—हला, आअच्छ आअच्छ । इदो दाणिं गच्छेह्म । देइ क्खु अम्हे अणुसरिस्संदि (इति गच्छन्ती स्तम्भमभिनीय) अम्मो, गच्छंतीए मए चरणा कुदो ण गच्छेंदि । [सखि आगच्छागच्छ अस्मादिदानीं गच्छावः । देवी खल्वावामनुसरिष्यति । (इति गच्छन्ती स्तम्भमभिनीय). आश्चर्यम्, गच्छन्त्या मम चरणौ कुतो न गच्छतः ।]

तुम अपने शिरीष के पुष्प जैसे अपने कोमल अंग को व्यर्थ ही आयास दे रही हो (स्वयं को दिखलाते हुए) जब कि तुम्हारे इष्ट पुष्पों का चयन करने के लिए यह तुम्हारा सेवक प्रस्तुत है । ॥ १६ ॥

सुनन्दना—(जनान्तिक के द्वारा) अरी सखी, सिर्फ हमारे स्वामी के समीप आने पर ही तूने इस प्रकार अपने अधीन कर डाला ।

चन्द्रकला—सखि, तुम झूठ कह कर क्यों मेरा मजाक बना रही हो ।

राजा—(चन्द्रकला का मुख दिखलाते हुए) अरी सुमुखि, तुमने यह लोकोत्तर चन्द्र कहाँ से प्राप्त किया जिसके मध्य में दो विकसित नीलकमल सुशोभित हो रहे हैं जिसके नीचे शंख और जिसके ऊपर भौरों का समूह सुशोभितहो रहा है जो दोषासङ्ग (दोषों के साथ रहने या रात्रिके संयोग) के विना ही सब कलाओं से पूर्ण है और निष्कलंक भी है । ॥ १७ ॥

चन्द्रकला—सखि, आओ (अब चलो) आओ । यहाँ से हमें अब चले जाना है क्यों कि निश्चित ही महारानी पीछा करती हुई यहाँ आ जाएँगी ।

---

१. पिकवचनेति अनन्तदासधृतो लोचने पाठः । २. स्थल—अ० पा० । ३. सम्पात—अ० पा० ।

सुनन्दना—(जनान्तिकम्) हला, जदा चित्तं ण गच्छेदि। [सखि, यदा चित्तं न गच्छति।]

चन्द्रकला—(सस्मितम्) हला सव्वदा ण विरमसि परिहासादो। [सखि, सर्वदा न विरमसि परिहासतः।]

सुनन्दना—हला, पढमदो वि तुए पासअ-केलिए तुह सहत्थउच्चिणिदव्वा सहआर-पल्लवा मे धारीअंति। ता उच्चिणेदु एदे। पुच्छा पुण जधासुहं गच्छदु पिअसही। [सखि, प्रथमतोऽपि त्वया पाशककेलौ तव स्वहस्तोच्चेतव्याः सहकारपल्लवाः मह्यं धार्यन्ते। तदुच्चीयतामेतान्। पश्चात् पुनर्यथासुखं गच्छतु प्रियसखी] (चन्द्रकला तथा करोति।)

राजा—(सस्पृहमालोक्य)

चूतपल्लवचयं निजकान्त्या खण्डितं प्रथममेव मृगाक्षि।
यत् करः कररुहेण पुनस्ते खण्डयत्यनुचितं परमेतत् ॥१८॥

चन्द्रकला—(पुलकस्वेदमभिनीय। सखीं प्रति) सहि गेण्ह एदं। अहं गच्छह्मि। [सखि गृहाणैतत्। अहं गच्छामि।] (इति गन्तुमुपक्रमते)

विदूषकः—भोदि, सअलाणं पुहवीसमुप्पण्णाणं सरिश-भाइणो राआणो

(आगे बढ़ कर स्तब्ध होती हुई) अरे! आश्चर्य! आगे चलने के लिए मेरे पैर क्यों नहीं बढ़ रहे हैं?

सुनन्दना—(जनान्तिक से) सखि जब तक मन नहीं चलता।

चन्द्रकला—(मुसकुरा कर) सखि, तुम अभी भी मेरी हँसी उड़ाने से नहीं चूकी!

सुनन्दना—सखि, पाशक क्रीड़ा के अवसर पर अपने हाथों से तोड़े गये आम्रपल्लवों का तुम पर हमारा कर्ज बाकी है इसलिए अब तुम उन पल्लवों को अपने हाथों से तोड़ों (हमारा कर्ज चूकता करो)। इसके बाद तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो चली जाना।

(चन्द्रकला वैसा ही कर देती है।)

राजा—(चन्द्रकला की ओर चाह से देखते हुए) अरी मृगलोचने, यह बहुत अनुचित होगा कि तुम्हारा हाथ एक बार पराजित होने वाले इस आम्रपल्लव को अब अपने नखों से पराजित करने की इच्छा से पुनः खण्डित कर रहा है ॥ १८ ॥

चन्द्रकला—(हर्ष से) रोमांचित एवं स्वेद युक्त होकर सखी से) सखि; ये लो। अब मैं जारही हूँ। (जाने को उद्यत होने लगती है)

विदूषक—अजी, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं के छठे भाग

होंति। ता कधं तुमं उच्चिणिदकुसुमपल्लआणां सट्टांसं पिअवअस्सस्स अदाऊण गतुं अहिलहेसि ? [भवति, सकलानां पृथिवीसमुत्पन्नानां षडंश-भागिनो राजानो भवन्ति। तत्कथं त्वम् उच्चितकुसुमपल्लवानां षष्ठांशं प्रियवयस्यायादत्त्वा गन्तुमभिलषसि ?]

सुनन्दना—सहि, सच्चं भणादि अज्जो। ता देहि दाणिं भट्टिणो हत्थे उच्चिणिदकुसुमपल्लआणं सट्टांसं। [सखि, सत्यं भणत्यार्यः। तद्दे-हीदानीं भर्तुः हस्ते उच्चितकुसुमपल्लवानां षष्ठांशम्।]

(चन्द्रकला सव्रीडमधोमुखी तिष्ठति)

सुनन्दना—हला, सव्वदो राआणं सट्टांसो वि जुजित्ति वावहारो एसो। ता कुदो एत्थं वि दे लज्जा ? [सखि, सर्वतः राज्ञां षष्ठांश युज्यते इति व्यवहार एषः। तत् कुतोऽत्रापि ते लज्जा ?]

चन्द्रकला—जं रोअदि पिअसहिए। [यद्रोचते प्रियसख्यै।] (इति सवैलक्षण्यं हृदयांशुकावगुण्ठितान् कुसुमपल्लवान् ददाति।)

राजा—उपनयतु मे सुकृतपादपस्य परिणतं फलमिदं प्रेयसि। (इति करौ प्रसारयति। चन्द्रकला कम्पमभिनयति। कुसुमपल्लवा भूमौ पतन्ति)।

राजा—(ससम्भ्रमम्) सर्वथानुपेक्षणीयो महाप्रसादः प्रियतमायाः। (इति भूमौ पतितान् कुसुमपल्लवानाददाति)।

पर राजा का अधिकार होता है। फिर आप अपने द्वारा तोड़े गये पुष्प पल्लवों का छठा भाग हमारे प्रियमित्र को बिना दिये यहाँ से चली जाना चाहती हो ?

सुनन्दना—सखि, आर्य ठीक कह रहे हैं इसलिये तुम अपने चुने हुए पुष्पपल्लवों का छठा भाग स्वामी के हाथ में अभी प्रदान करो।

(चन्द्रकला लज्जित होकर नीचा मुख करती हुई खड़ी हो जाती है।)

सुनन्दना—सखि, राजा को सभी स्थानों पर छठा भाग दिया जाना उचित व्यवहार माना गया है इसलिए इस कार्य में लजाना क्यों कर ठीक होगा।

चन्द्रकला—प्रियसखी की जैसी इच्छा।

(लजाती हुई अपने हृदय पर ढँके हुए अपने वस्त्र में रखे हुए पुष्पों को देने लगती है)

राजा—प्रियतमे, तुम मेरे पुण्य पादप के फलों को अब मुझे शीघ्र अर्पित करो। (अपने दोनों हाथ फैला देता है।) आगे बढ़कर पुष्पों को देते समय चन्द्रकला के हाथ काँपने लगते हैं जिससे पुष्प-पल्लव पृथ्वी पर बिखर जाते हैं।)

राजा—(घबराहट से) प्रिया के इस प्रसाद की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। (पृथ्वी पर गिरे हुए पुष्प-पल्लवों को बटोरने लगता है।)

विदूषकः—भो वअस्स, ण क्खु एसो पल्लओ मुत्तिमंदो क्खु दे पिअदमाए अणुराओ। ता दाणिं हिअए गेण्ह एदं। [भो वयस्य, न खल्वेष पल्लवः मूर्तिमान् खलु ते प्रियतमायाः अनुरागः। तदिदानीं हृदये गृहाणैतत्।]

राजा— सत्यमाह प्रियवयस्यः। (इति हृदये विदधाति)।

विदूषकः—(पुरोऽवलोक्य) अहो का गदी ! कधं एत्थ दाणिं पिअवअस्सस्स चंदअलाए सह रदिअलासु उव्वाढ़िदासु अप्पसण्णा अण्णठ्ठाणसण्णिएसं असहमाणा वि अत्ताणं गोविदिअ देइसहआरणी रदिअला पुरो दीसदि। [अहो का गतिः। कथमत्रेदानीं प्रियवयस्यस्य चन्द्रकलया सह रतिकलासु उद्वाढितासु अप्रसन्ना अन्यस्थानसन्निवेशमसहमानाप्यात्मानं गोपयित्वा देवीसहचारिणी रतिकला पुरतो दृश्यते।]

सुनन्दना—(विलोक्य) हला चंदअले, तुरिदं एहि एहि। इअं क्खु देईसहआरिणी रदिअला इदो आअच्छेदि। ता एत्थ माहवीलदंतरे गोविदे होम्ह। [सखि चन्द्रकले, त्वरितमेहि एहि। इयं खलु देवीसहचारिणी रतिकला इत आगच्छति। तदत्र माधवीलतान्तरे गोपिते भवावः।]

चन्द्रकला—(सोद्वेगम्) तुरिदं एदु प्पिअसही। [त्वरितमेतु प्रियसखि।] (इत्युभे माधवीलतान्तरप्रवेशं नाटयतः)।

(ततः प्रविशति रतिकला)

रतिकला—कहिं उण पेक्खामि महाराअं ! (परिक्रम्यावलोक्य च)

विदूषक— प्रियमित्र, यह पल्लव नहीं प्रियतमा का मूर्त्तिमान् अनुराग है इसलिये इसे अब उठाकर अपने हृदय से लगाओ।

राजा— प्रियमित्र ने ठीक कहा है। (पुष्पों को हृदय पर रख लेता है।)

विदूषक—(सामने देख कर) ओ हो ! अब क्या करें। महारानी की परिचारिका रतिकला यहाँ कैसे आगयी जो चन्द्रकला के साथ होने वाली प्रियमित्र की अनुराग वृद्धि के कारण क्रुद्ध है और महाराज का यहाँ रहना पसन्द न करने के कारण अपने आगमन को छिपाये हुए है।

सुनन्दना—(देखकर) सखी चन्द्रकले, जल्दी से इधर आ जाओ। महारानी की परिचारिका रतिकला इधर ही आ रही है इसलिए हम दोनों इस माधवीलता के अन्दर छिप जाएँ।

चन्द्रकला—(घबड़ाहट के साथ) प्रियसखी, जल्दी आओ। (दोनों माधवी लता के अन्दर छुप जाती हैं।)

(तभी रतिकला का प्रवेश)

रतिकला— अब मैं महाराज को कहाँ देखूँ। (घूमकर और सामने देखती

कधं इध ज्जेव एसो। ता उवसप्पम्मि (इत्युपसृत्य) जअदु जअदु महाराओ। देइ क्खु एत्तिअं कालं महाराअ पउत्ति अलहमाणा सव्वदो पेसिद-समत्थपरिअणा पज्जुच्छुआ वट्टेदि। ता दाणिं तुरिदं महाराएण ताए सण्णिधिहेण होदव्वं [कुत्र पुनः प्रेक्षे महाराजम्। (परिक्रम्यावलोक्य च) कथमिहैव एषः। तदुपसर्पामि (इत्युपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः। देवी खलु एतावन्तं कालं महाराजप्रवृत्तिमलभमाना सर्वतः प्रेषितसमस्त-परिजना पर्युत्सुका वर्तते। तदिदानीं त्वरितं महाराजेन तस्याः सन्निहितेन भवितव्यम्।]

राजा—(दीर्घं निश्वस्य। स्वगतम्) हा दैव ! किमत्र करणीयम्।

विदूषकः—(अपवार्य) भो वअस्स, दाणिं क्खु देईसमागमणं ज्जेअ उचिदं। पच्छा उण जधा चंदअला-समाअमो होदि तथा चिंदिदव्वं। अण्णधा आअदि सुद्धो ण भोदि एसो। [भो वयस्य, इदानीं खलु देवीसमा-गमनमेवोचितम्। पश्चात् पुनर्यथा चन्द्रकलासमागमो भवति तथा चिन्ति-तव्यम्। अन्यथा आयतिः शुद्धो न भवत्येषः।]

राजा—सत्यं सत्यम्। अवितथमाह प्रियवयस्यः। [प्रकाशम्] रति-कले, मया खलु नवकुसुमितां माधवीलतामाकर्ण्यापरिमितविस्मयाविष्टेन त्वरितमिह प्रविष्टं केलिवनम्।

हुई) महाराज की विजय हो। (आगे आकर) महाराज, इतने समय तक प्रतीक्षा करने पर जब आपके समाचार प्राप्त नहीं हुए तो महारानी जी ने अपनी परिचारिकाओं को आपको ढूँढ़ने के लिए सभी ओर भेज दिया है और अब वह अतिशय उत्सुकता से आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं। इसलिए शीघ्र ही अब आप उनके समीप चलने का कष्ट कीजिये।

राजा—(जोरों से उसाँस लेकर। स्वगत) हाय रे ! दुर्भाग्य। अब क्या किया जाए।

विदूषक—(अपवारित के द्वारा) मित्र, इस समय महारानी के समीप चले जाना ही उचित है। इसके बाद चन्द्रकला के साथ पुनर्मिलन के विषय में फिर विचार करेंगे। यदि ऐसा न किया जाए तो इसका आगे परिणाम बुरा निकल सकता है।

राजा—ठीक है मित्र, तुमने सच कहा। (प्रकट) रतिकले, मैंने इस माधवीलता के समाचार पाकर कि यह अभी कुसुमित हुई है—अपने अचरज भरे मन से इस उपवन में शीघ्र प्रविष्ट हो गया था।

रतिकला—देईए क्खु एतिअं कालं महाराअं अणवेक्खंतीए क्खणो वि जुअंदरं आअरेदि। [देव्या। खलु एतावन्तं कालं महाराजमनवेक्षमाणायाः क्षणोऽपि युगान्तरमाचरति ।]

राजा—तद्दर्शय पन्थानं देवीसमीपगमनाय ।

रतिकला—एदु महाराओ । [एतु महाराजः ।]

विदूषकः [चन्द्रकलालंकृतां माधवीलतां दर्शयन्) भो वअस्स, इअं क्खु अणुहूदपरिमला अणुरोदइ विअ तुमं गच्छन्तं गलन्तअ-मअरंदा माहवी लदा । ता वअणे वि संभावीअदु एसा । [भो वयस्य, इयं खलु अननुभूत-परिमला । अनुरोदितीव त्वां गच्छन्तं गलन्मकरन्दा माधवी लता । तद्वचनेनापि सम्भाव्यतामेषा ।]

राजा—सखे, भद्रम् । (इति माधवीलतामवलोक्य)

आसादयति न यावन्माधवि भवतीमिहैव पुनः ।
निवृत्तिमेति न चेतः चित्ररथक्ष्मापतेस्तावत् ॥ १९ ॥

(इति रतिकलानिर्दिष्टमार्गे विदूषकेन समं निष्क्रान्तः)

चन्द्रकला—(कुञ्जान्निष्क्रम्य दीर्घं निश्वस्य च स्वगतम्) हा देव्व !

रतिकला—और महारानी भी आपको इतने समय तक न देखने पर ऐसा अनुभव करने लगी मानो युगान्तर वीत गया हो ।

राजा—तो महारानी के समीप ले चलने के लिए मुझे आगे बढ़ कर मार्ग दिखलाओ ।

रतिकला—महाराज इधर से चलिये ।

विदूषक—(चन्द्रकला से युक्त माधवीलता को दिखलाते हुए) प्रियमित्र, यह माधवीलता अपने परिमल का उपभोग न करने पर आपके चले जाने से अपने पराग को गिरा कर मानों रो रही है इसलिये कम से कम अपने (मृदु वचन) कथन मात्र से ही इसका अभिनन्दन कर दीजिए ।

राजा—मित्र, तुमने ठीक ही कहा । (घूम कर माधवीलता की ओर देख कर) अरी माधवी, इस चित्ररथ राजा का मन तव तक शान्त नहीं होगा जव तक तुम्हें यहीं आकर पुनः प्राप्त न कर लूं ॥ १९ ॥

(रतिकला के द्वारा बतलाये गये मार्ग से विदूषक के साथ
प्रस्थान करता है ।)

चन्द्रकला—(लता कुञ्ज से वाहर निकल कर जोरों से उसाँस लेती हुई।

कधं मइ मंदभाइणीए एदिसो वि वेत्थवैरण्णुबंधो आअरिदो । [हा दैव ! कथं मयि मन्दभागिन्यामीदृशोऽपि व्यर्थवैरानुबन्धः आचरितः ।]

सुनन्दना—हला, सुदं महाराअस्स साहिप्पाअं वअणं । ता कलज्जैव दे मणोरधाणं संपादइदा महाराओ । एत्थ ठ्ठादुं दाणिं ण जुज्जेइ । ता पुरं ज्जेव्व प्पविसम्ह । [सखि, श्रुतं महाराजस्य साभिप्रायं वचनम् । तत् श्वः एव ते मनोरथानां सम्पादयिता महाराजः । अत्र स्थातुमिदानीं न युज्यते । तत् पुरमेव प्रविशावः ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

प्रथमोऽङ्कः ।

स्वगत) अरे दुर्दैव, तू मुझ अभागिन से अपना वैर बढ़ाकर क्यों व्यर्थ ही ऐसा व्यवहार कर रहा है ?

सुनन्दना—सखि, तुमने महाराज के अर्थपूर्ण कथन को तो सुन ही लिया है । इसलिये कल ही महाराज (आकर) तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे । अब हमारा यहाँ ठहरना भी उचित नहीं है । इसलिये चलो, अब हम नगर में ही प्रवेश करें ।

(सभी का प्रस्थान ।)

प्रथम अङ्क समाप्त ।

———

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सुनन्दना विदूषकश्च)

सुनन्दना—अज्ज, मइ प्पिअसही चंदअला तुज्झ णिओएण अज्ज णिसाए मए सह महाराअसमाअमं अणुसरंती संतप्पणदुमिदंतराए केलिवणदीहिआए अंते वट्टेदि। कधं एत्तिकं कालं विलंवेदि किदसंकेदो भट्टा [आर्य, मम प्रियसखी चन्द्रकला तव नियोगेन अद्य निशायां मया सह महाराजसमागमनुसरन्ती सन्तर्पणद्रुमितान्तराया केलिवनदीर्घिकायाः अन्ते वर्तते। कथमेतावन्तं कालं विलम्बते कृतसङ्केतो भर्त्ता ?]

विदूषकः—भोदि, पच्छण्णरूवं गेण्हिअ तत्थ गंदुं उवक्कमाणो पिअवअस्सो उवाएहिं रुंज्झमाणाए देईए अग्गदो एदिअ भणिदो "अज्ज मए रअणी-अरस्स अंसुणा विअसंदीए केलिवणदीहिआ-कुमुदिणीए एदिणा परिणाउमहुच्छओ संमादिदव्वो। तत्थ अज्जउत्तेण सण्णिहिदेन होदव्वं-त्ति। [भवति ! प्रच्छन्नरूपं गृहीत्वा तत्र गन्तुमुपक्रममाणः प्रियवयस्यः उपायैः रुन्ध्यमानया देव्या अग्रतः एत्य इति भणितः—आर्य, मया रजनीकरस्यांशुना विकसन्त्याः केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्याः एतेन परिणयमहोत्सवः सम्पादितव्यः। तत्र आर्यपुत्रेण सन्निहितेन भवितव्यमिति।]

(सुनन्दना और विदूषक प्रवेश करते हैं।)

सुनन्दना—आज रात्रि में आपके संकेत के कारण मेरी प्रियसखी चन्द्रकला मेरे साथ महाराज के मिलन की चाह रख कर सन्तर्पण वृक्ष के बीच में स्थित होने वाले केलिवन की मध्यवर्ती वापिका के पास भयभीत होकर खड़ी हुई है। इस संकेत पर आने का वचन देकर भी अब तक महाराज इतना विलम्ब क्यों किये हुए हैं ?

विदूषक—अजी, सुनो। जब हमारे प्रियमित्र महाराज वहाँ जाने के लिये अपना सुन्दर वेश बनाते हुए तैयारी कर रहे थे तभी महारानी ने किसी उपाय से उन्हें रोकते हुए निवेदन किया—आर्यपुत्र, मैंने आज रात्रि के समय चन्द्र की किरणों से खिलने वाली इसी केलिवन वापिका के समीप विद्यमान कुमुदिनी का विवाह-महोत्सव का आयोजन किया है। अत एव आप भी इस अवसर पर मेरे समीप रहें यही प्रार्थना है।

सुनन्दना—अव्वो, किं एत्थ पडिवण्णं भट्टणा ? [अहो ! किमत्र प्रतिपन्नं भर्त्रा ?]

विदूषकः—भोदि, तत्थ मए अदिसइदसअलमंति-वुद्धिविहवेण उवाओ चिंदिदो ज्जेव। ता दाणिं तुमं देईए समीवं ज्जेव्व वट्टंती होहि। जधा चंदअलासमीवगदं पिअवअस्सं अणुसरिदुं जइ एसा गच्छदि तहा तुरिदं गदुअ णिवेदेणु एणं। अहं वि इदो गच्छेह्मि समीहितं संपादेदुं त्ति। [भवति, तत्र मया अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन उपायश्चिन्तित एव। तदिदानीं त्वं देव्याः समीपमेव वर्तमाना भव। यदा चन्द्रकलासमीपगतं प्रियवयस्यमनुसर्तुं यदि एषाऽऽगच्छति तदा त्वरितं गत्वा निवेदय एनम्। अहमपि इतो गच्छामि समीहितं सम्पादयितुमिति।]

(इति निष्क्रान्तौ)

(प्रवेशकः।)

(ततः प्रविशति परिचारिकाभिश्चामरैरुपवीज्यमानो राजा देवी च)

राजा—प्रिये, पश्य, पश्य।

विरहिकुलकृतान्तः क्षुण्णकर्पूरकान्तः
कृतयुवधृतिभङ्गः सम्भृतानङ्गरङ्गः।
गगनजलधिहंसः स्थाणुचूडावतंसः
क्षयितकुमुदतन्द्रः शोभते शुभ्रचन्द्रः ॥१॥

सुनन्दना—अरे ! तो फिर ऐसी स्थिति में महाराज ने क्या विचार किया।

विदूषक—अजी, ऐसी दशा में सभी मन्त्रियों से अपनी बुद्धि की अधिक पूँजी रखने वाले इस जन ने एक उपाय सोचा है कि तुम उस समय तक महारानी के पास बनी रहो जब वह चन्द्रकला के समीप स्थित महाराज से मिलने के लिये आने लगे तो जल्दी से आगे बढ़ कर उसकी सूचना मुझे कर दो। इसलिये अब मुझे भी अपना कार्य पूर्ण करने के लिये यहाँ से जाना है।

(दोनों का प्रस्थान।)

(महारानी के साथ महाराज का प्रवेश। चारों ओर स्थित परिचारिकाएँ सेवा रत हैं और चँवर डुला रही हैं।)

राजा—प्रिये, इधर देखो, इधर !

यह शुभ्रस्वरूप चन्द्र जो विरहिजन के लिये यम के समान प्राणहारक है, कर्पूर के चूर्ण सा शुभ्र एवं मनोरम है, युवजन के धैर्य का नाशक है, काम-

देवी—ता दाणिं तुवरदु अज्जउत्तो तदस्स आलोअमेत्तकेणावि विहसं-तीए उअवणमहदीहिआ–कुमुदिणीए एदिणा परिणअउच्छअं संपादेदुं। [तदिदानीं त्वरतामार्यपुत्रः तदस्या आलोकमात्रेणापि विहसन्त्याः उपवनमहादीर्घिकाकुमुदिन्या एतेन परिणयोत्सवं सम्पादयितुम्।]

राजा—प्रिये, अद्यापि त्वया न मुक्तो मुग्धभावः। कथं पुनरतिदवीयसः क्षणदाकरस्य कुमुद्वत्या करग्रहनिवर्तनमित्यपि यस्याः मनसि विवेकः न स्फुरति।

देवी—अज्जउत्त, किं मं उवहसेसि। एदिणा किर अमिअ-मऊहेण दोहिआकुमुदिणीए किसलअकरे सअं ज्जेव्व करे अप्पिदो वट्टदि। ता दाणिं एदाणं परिणअत्थं तुह सण्णिहाणमेत्तं मए कंखीअदि। [आर्यपुत्र, किं मामुपहससि। एतेन किल अमृतमयूखेन दीर्घिकाकुमुदिन्याः किसलयकरे स्वयमेव करोऽर्पितो वर्तते। तदिदानीम् एतयोः परिणयार्थं तव सन्निधानमात्रं मया कांक्ष्यते।]

राजा—तथाप्यलमस्येदानीं तव वदनाम्भोजविस्पर्द्धिनो दोषाकरस्य परिणयोत्सवोपादानेन।

देवी—अज्जउत्त, जाणामि जधा किर असच्चो ज्जेव्व दे सअलो वि अम्हेहिं अणुराअबंधो जा मह एत्तिअं वि मणोरहं पूरेदुं दे कदा वि

क्रीडाओं का संवर्द्धक है, आकाश-सागर में राजहंस है, शिवजी के मस्तक का शेखर है और कुमुद की तन्द्रा का विघातक है॥ १॥

देवी—तब तो महाराज शीघ्रता कीजिये क्योंकि इस चन्द्र के केवल प्रकाशित होने से ही इस उपवन की महादीर्घिका के अन्तराल में अवस्थित कुमुदिनी खिलने लगी है। इसलिये महाराज इसके साथ विवाहमहोत्सव शीघ्र सम्पन्न कर दें।

राजा—प्रिये, अभी भी तुम्हारा बचपन नहीं गया। क्योंकि तुम्हारे मन में इतना भी विवेक नहीं रहा कि इस कुमुदिनी का दूरस्थ चन्द्र के साथ विवाह कैसे होगा।

देवी—महाराज, मेरा इस तरह क्यों परिहास कर रहे हैं। इस अमृत-रश्मि के साथ तो दीर्घिका में स्थित कुमुदिनी का कर स्वयं ही मिल रहा है। इसलिये अब इनके विवाह में आपकी उपस्थिति मात्र की मेरी चाह बची है।

राजा—और तब भी इस समय तुम्हारे मुखकमल से स्पर्द्धा करने वाले इस दोषाकर के परिणय-महोत्सव का तुम सम्पादन कर रही हो।

देवी—आर्यपुत्र, मैं जानती हूँ कि आपके समग्र अनुराग का हमारे साथ

चित्तविति ण परिसरेदि । [आर्यपुत्र, जानामि यथा किल असत्य एव ते ते सकलोऽपि अस्मास्वनुरागबन्धः यन्मम एतावन्तमपि मनोरथं पूरयितुं ते कदापि चित्तवृत्तिः न प्रसरति ।]

राजा—(विचिन्त्य । स्वगतम्) एकतः खलु—

व्योममण्डलमिदं समाकुले तां चमूरु-चललोचनां विना ।

शीत-दीधिति-मयूखकैतवान्मुञ्चतीव मयि मुर्मुरं मुहुः ॥२॥

अन्यत्र अपि च—

अत्र केलि-विपिने निवसन्तीं दीर्घिकाकुमुदिनीमभियान्ती ।

तामियं मयि निवेशितभावां वीक्षते न पुनरित्यपि भीतिः ॥३॥

(विचिन्त्य) तत् किम्पुनरत्र करणीयम् । प्रायशः स्त्रीणामाग्रहो नाम दुरपनोदः तदलमिदानीमत्रातिनिर्वन्धेन । तावदेवं तावत् (प्रकाशम्) प्रिये, एह्येहि एह्येहि । सम्पादयामि दीर्घिकाकुमुदिनी-परिणयमहोत्सवम् । (इत्युभौ सपरिवारौ केलिवनप्रवेशं नाटयतः ।) (नेपथ्ये कलकलः । सर्वे सचकिताः शृण्वन्ति ।)

(पुनर्नेपथ्ये ।)

वन्धन सही नहीं है क्योंकि हमारी इस छोटी-सी अभिलाषा को पूरा करने के लिये भी आपकी मनोभावना आगे नहीं बढ़ रही है ।

राजा—(सोचकर । स्वगत) एक ओर तो—यह आकाश जैसा भी यह है—बार-बार उस मृगनयना से वियुक्त होने के कारण आकुल मन वाले मुझ पर चन्द्र की शीतल किरणों के बहाने अग्नि विकीर्ण कर रहा है ॥ २ ॥

और दूसरी ओर—

इस केलि उपवन के मध्य में विद्यमान दीर्घिका कुमुदिनी की ओर जाती हुई यह महारानी मुझ पर आसक्त होकर (प्रतीक्षार्थं) स्थित होने वाली उस प्रिया को कहीं देख न ले इसका भय भी हो रहा है ॥ ३ ॥

(सोचकर) तो फिर अब क्या किया जाए । (क्योंकि) स्त्रियों का आग्रह दूर करना कठिन होता है इसलिये इसमें अधिक आसक्ति रखना अनावश्यक है । अच्छा ? तो इसे इस तरह किया जाए । (प्रकट) प्रिये, आओ आओ । मैं इस दीर्घिका कुमुदिनी का प्रस्तावित विवाह महोत्सव स्वयं सम्पन्न किये देता हूँ (दोनों केलिवन में परिजन के साथ प्रवेश करते हैं । नेपथ्य में कोलाहल होता है और सभी आश्चर्य चकित होकर उसे सुनने लगते हैं ।)

(नेपथ्य में फिर सुनाई देता है)

रे रे केलिवनरक्षकाः, पलायध्वं पलायध्वं पलायध्वम्। इदानीं खलु—
लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दार[1]यन्नग्रपद्भ्या-
मात्मन्येवावलीय[2] द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण।
स्फूर्जत्फुत्कारघोर[3]: प्रति[4]दिशमखिलान् द्राव[5]यन्नेष जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिबलमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥४॥

सर्वाः—(श्रुत्वा। सभयम्) अज्जो, भट्टिणि, इमं ज्जेअ केलिवणं पइट्ठो दुट्ठवग्घओ। ता इदो पलाइअम्ह। [आर्ये, भट्टिनि, इदमेव केलिवनं प्रविष्टो दुष्टव्याघ्रः। तदितो पलायामहे।]

देवी—अम्मो ! कहं बग्घो। [आश्चर्यम् ! कथं व्याघ्रः।] (इति भयात् राजानमालिङ्गति।)

राजा—प्रिये, न भेत्तव्यं न भेत्तव्यम्। अमुना खलूपकृतोऽहमयाचितभवदीयसंरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिन्नपुलकाङ्कुरस्तरक्षुणा दुष्टेन।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्तः शवरः)

शवरः—(राजानं प्रति दूरतः सप्रणामम्) जेदु जेदु भट्टालके। एसो क्खु कुदो वि केलिवणं पइट्ठो इदो तदो कुलंगजुत्थविज्जावणओ दिट्ठि-

---

अरे केलिवन के पहरुओं। भागो भागो। क्योंकि इस समय बार बार अपनी पूँछ पटक कर अगले दो पैरों से पृथ्वी को कुरेदते हुए एवं बड़े वेग से घू घू शब्द कर सभी जीवों को भयभीत कर भगा देने वाला, क्रोध में भरा हुआ अपनी लाल आँखे निकाले उभरे नेत्रों वाला यह बघेरा (चरख) इस उपवन में घुस आया है ॥ ४ ॥

सभी—(सुनकर भयभीत होते हुए) महाराज व महारानी जी, यह दुष्ट वघेरा तो इसी क्रीड़ा उपवन में आ घुसा है। इसलिये यहाँ से भाग चलना चाहिए।

देवी—अरे ! यहाँ वघेरा ! (भयभीत होकर आलिंगन करती है)

राजा—प्रिये, डरो मत। इस दुष्ट वघेरे ने तो विना याचना के ही घबराहट भरी तुम्हारी इस दशा को बनाकर रोमाञ्चपूर्ण आलिङ्गन देते हुए मुझ पर उपकार कर डाला है।

(पर्दा उठाकर घबराए हुए शबर का प्रवेश।)

शबर—(दूर से राजा को प्रणाम करते हुए) महाराज की विजय हो, विजय हो। इस केलि उपवन में कहीं से आकर एक दुष्ट बघेरे का बच्चा

---

१. वारयन्नेष इति लोचने।
२. स्फूर्जद्धुङ्कारघोषः—इति लोचने।
३. प्रतिवन—मू०, लोचने च प्रतिबलमिति पाठः।
४. वारयन्नेष—लोचने।

दिअंदभअंकलो दुट्ठतलक्खुबडुओ। ता दाणि भट्टालकेण आणत्ताओ तं मालइदुं इच्छेंदि केइवणरक्खआओ वणअलाओ। [जयतु जयतु भट्टारकः। एष खलु कुतोऽपि केलिवनं प्रविष्टः इतस्ततः कुरङ्गयूथविद्रावकः दृष्टिदिगन्तभयङ्करः दुष्टतरक्षुवटुकः। तदिदानीं भर्त्राज्ञप्तास्तं मारयितुमिच्छन्ति केलिवनरक्षकाः वनचराः।]

राजा—(श्रुत्वा। सकौतुकम्) वनपाल, केलिवनमृगवृन्दविद्रावको-[1]ऽपि तिष्ठतु क्षणमयं तरक्षुः। वयमिदानीं खलु तदालोकनकुतूहलिनो वर्तामहे।

देवी—(सभयम्) अय्यउत्त, एदेहिं मारिअ इध आणदो एव्व पेक्खिदव्वो एसो। अलं दे तत्थ गमणपलिस्समेण। [आर्यपुत्र, एतैर्मारयित्वा इत आनीत एव प्रेक्षितव्यः एषः। अलन्ते तत्र गमनपरिश्रमेण।]

राजा—प्रिये, न भेत्तव्यं न भेत्तव्यम्। यतः

> **आत्मबाहुबलनिर्जिताखिल-**
> **क्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसाम्।**
> **ईदृशेषु शशिवंशजन्मना-**
> **मस्ति कैव गणना तरक्षुषु॥ ५॥**

तत् त्वमिदानीं सपरिवारान्तपुरमेव प्रविश। क्षणेनैव निहततरक्षु-

---

घुस गया है। इसने मृगों के समूह में भगदड़ मचा डाली है और यह दसों दिशाओं को अपनी डरावनी दृष्टि से देखकर भयभीत कर रहा है। इसलिए इस उपवन के रक्षक वनचर महाराज से आज्ञा मिलने पर इसे मार डालने की इच्छा कर रहे हैं।

राजा—(सुनकर कौतूहल के साथ) अरे वनपाल, इस उपवन में अवस्थित एवं मृगवृन्द में भगदड़ पैदा करने पर भी अभी कुछ समय इस बघेरे को यहीं बने रहने दिया जाए। हमारे मन में भी उसे देखने का कौतूहल हो रहा है।

देवी—(घबराकर) महाराज इन्हीं लोगों से मारे जाने पर यहाँ उसे लाने पर आप उसे देख लीजियेगा। आप स्वयं वहाँ जाने का आयास क्यों कर रहे हैं।

राजा—प्रिये, तुम्हें डरना नहीं चाहिए। क्योंकि अपने बाहुबल से समग्र भूमण्डल के महीपालों पर विजय प्राप्त कर अपना प्रदीप्त वर्चस्व रखने वाले हम चन्द्रवंशियों के सामने इस बघेरे की क्या गिनती है॥ ५॥

इसलिए तुम अपनी परिचारिकाओं और सखियों को साथ लेकर रनिवास

---

१. विद्रावणो—मू० पा०।

क्षयोऽहं मानयिष्ये भवतीम्। (इति गन्तुमुपक्रमते)

देवी—(परिष्वज्य। सबाष्पम्) अज्जउत्त, जदि तुए अवस्सं गंदव्वं तधा मए वि तत्थ गंदव्वम्। [आर्यपुत्र, यदि त्वयाऽवश्यं गन्तव्यन्तदा मयापि तत्र गन्तव्यम्।]

राजा—प्रिये, कातर्यं हि नाम स्वाभाविको धर्मः स्त्रीणाम्। तत् कथं भवत्या तादृशस्य तरक्षोरभिमुखं क्षणमपि वर्तितव्यम्। किञ्च त्वयि सन्निहितायां त्वद्वदनावलोकनैकपरायणस्य ममापि प्रत्यूहो भवति तरक्षुमारणस्य। तदलमिदानीमत्र महोयर्साभिनिवेशेन। त्वं तावत् सपरिवारान्तःपुरमेव तावत् प्रविश।

देवी—(सबाष्पम्) पडिहदममंगलं होदु अज्जउत्तस्स। [प्रतिहतमङ्गलं भवत्वार्यपुत्रस्य।] (इति राजानमवलोकयन्ती सपरिवारा निष्क्रान्ता)

राजा—वनपाल, दर्शय कुतः तरक्षुः ?

शवरः—एदु एदु सामिके। [एतु एतु स्वामी।]

(राजा परिक्रामति)

शवर—पेक्खदु पेक्खदु सामिके। एसो संमालिद-कुलंग-लुधिल अन्दजाल-कलालिद-णहलो दीट्ठिदिअंद-भअंकलो तलक्खुबड्डुगो। [पश्यतु

में ही चली जाओ। मैं एक क्षण में इस वघेरे का सफाया कर वहीं तुम्हें मना लूंगा। (जाने की तैयारी करता है।)

देवी—(रोते हुए आलिंगन कर) महाराज, आप यदि वहाँ जाएँगे तो मैं भी आपके साथ वहीं चलूंगी।

राजा—प्रिये, स्त्रियों का स्वाभाविक गुण होता है भय। इसलिए तुम उस वघेरे के सामने एक क्षण भी कैसे टिक सकेगी और मुझे भी तुम्हारे समीप रहने पर तुम्हारी ओर ही देखते रहने की अभिलाषा हो उठने के कारण उस बघेरे को मारने में विघ्न होगा। इसलिए इस बात पर अधिक हठ मत करो और अपनी सखियों को लेकर शीघ्र रनिवास में ही चली जाओ।

देवी—(आँखों में आँसू भरकर) महाराज का कल्याण हो। (महाराज को देखती हुई सखियों आदि के साथ चली जाती है।)

राजा—वनपाल, मुझे वतलाओ वह बघेरा कहाँ है ?

शबर—महाराज, आइये इधर। राजा उसके साथ चलकर घूमता है)

शबर—महाराज, इधर देखिये। यही है वह बघेरा जिसके नख हिरन को मार डालने के कारण उसके ताजे रक्त से लाल और भयावने हो रहे हैं

पश्यन्तु स्वामी। एष सम्मारितकुरङ्गरुधिरान्त्रजालकरालितनखरो दृष्टि-दिगन्तभयङ्करः तरक्षुबटुकः] (इत्यङ्गुल्या निर्दिशति)

राजा—(विलोक्य) आः कथं ममापि नाम केलिवने—

उदस्यैकं पादं विटपिषु मुहुः स्कन्धकषणात्
कृतव्योमाभङ्गः शकुनिकुलकोलाहलभरैः।
परिभ्राम्यन्नुच्चैः प्रकटरसनो व्यात्तवदनः
तरक्षुः क्रुद्धोऽयं क्षिपति मृगयूथानि परितः॥ ६॥

तदिदानीं वनपाल, त्वरितमानय सशरं शरासनम्।

शवरः—जं आणवेदि भट्टालके। [यदाज्ञापयति भट्टारकः] (इति निष्क्रम्य पुनः राज्ञः सशरं शरासनमुपनयति। राजा नाट्येन तदादत्ते)

शवरः—अले दुठ्ठ तलक्खु, कुओ दाणिं पलाहेहि। ईहि ईहीत्ति। एसो क्खु गहिदसलासणओ भट्टालको। [अरे दुष्टतरक्षो, क्व इदानीं पलायसे। ऐहि ऐहीति। एष खलु गृहीतशरासनो भट्टारकः।] (तरक्षुः सघुत्कारमभिविक्रम्य संहितबाणशरासनं राजानमवलोक्य पलायते। राजा शवरानुगतो धावति)

और जो अपनी दृष्टि से दिशाओं के प्रान्त को भी भयभीत कर रहा है। (अपनी उँगली से दिखलता है।)

राजा—(देखकर) अरे! मेरे इस क्रीडा उपवन में भी यह सब कैसे हो रहा है।

यह क्रुद्ध बघेरा जो अपने एक पैर को ऊपर उठाकर वृक्षों से बार-बार अपने कन्धों को रगड़ते हुए आकाश को फाड़ डालने की चेष्टा करने लगा है और पक्षियों की कोलाहल पूर्ण आकुल ध्वनि को करवाते हुए ऊपर की ओर छलाँगे भर कर अपने मुँह को फैलाकर भयंकर दाँतों को दिखलाते हुए चारों ओर मृगों के झुण्डों को छितरा रहा है॥ ६॥

इसलिये वनपाल, अब तुम शीघ्र मेरे धनुष बाण को ले आओ।

शवर—जैसी स्वामी की आज्ञा। (जाता है और महाराज के धनुष बाण लेकर आ जाता है। राजा उससे ले लेता है।)

शवर—अरे दुष्ट बघेरे, अब भाग कर कहाँ जा रहा है। इधर तो आ। अब यहाँ हमारे स्वामी ने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया है। (बघेरा गुर्राते हुए चारों ओर घूमता है और धनुषधारी राजा को देखकर भागने लगता है। राजा शबर के साथ उसका पीछा करता है।)

तरक्षुः—(सर्वतः केलिवनं विजनमालोक्य) एसो म्हि रसालओ संवुत्तो । [एषोऽस्मि रसालकः संवृत्तः ।] (इति व्याघ्र भूमिकां परित्यज्य विदूषकरूपस्तिष्ठति ।)

राजा—(विलोक्य । सहर्षम्) सखे, सदृशमाचरितं प्रतिज्ञातस्य प्रतिदिनमुपचीयमानस्य च सौहृदस्य (शवरं प्रति) वनपाल, तदिदानीं भवता शिलातरक्षुमेकमानीय इहैव विशिखजालनिर्भिन्नं स्थापितवता घुस्यतामभितो महाराजेन निहतस्तरक्षुरिति ।

शवरः—जं आणवेदि सामिके । [यदाज्ञापयति स्वामी ।] (इति निष्क्रान्तः)

राजा—सखे, पश्य पश्य,

सह कुसुमकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैः धैर्यमुत्सादयन्तः ।
सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः सञ्चरन्ति ।। ७ ।।

विदूषकः—वअस्स, महवि सुण कइत्तणं [वयस्य, ममापि शृणु कवित्वम् ।]

बघेरा—(केलिवन के एक निर्जन प्रदेश पर रुककर देखते हुए) लो अब मैं रसालक बन रहा हूँ । (बघेरे के वेष को पटककर अपने असली रूप में खड़ा हो जाता है ।)

राजा—(देखकर प्रसन्नता के साथ) मित्र, तुमने प्रतिदिन बढ़ने वाली मैत्री एवं अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप ही यह कार्य कर डाला है । (शबर को देखकर) वनपाल, तुम एक बघेरा लाओ और बाणों से वीधकर उसे यहीं रख कर चारों ओर घोषणा कर दो कि महाराज ने बघेरे को मार डाला ।

शबर—महाराज की जो आज्ञा । (चला जाता है ।)

राजा—मित्र, देखो । इस कुसुम समूह के साथ काम को उल्लासित करती हुई, घनतिमिर के साथ धैर्य को हटाती हुई, कमलसमूह के साथ हृदयों को निमीलित करती हुई ये चन्द्र की रश्मियाँ चारों ओर फैल रही हैं ।। ७ ।।

विदूषक—मित्र, इस पर अब मेरी कविता भी सुनिये ।

एसो ससहरबिंबो दीसई हेअंगवीणपिंडोव्व ।
एदे अंसमऊहाः पडंदि आसासु दुद्धधाराव्व ।। ८ ।।

[एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते अस्त्रमयूखाः पतन्ति आशासु दुग्धधारा इव ॥]

राजा—अहो भोजन-रसिकता प्रियवयस्यस्य । सखे, तदिदानीं दर्शय कुतः प्रियतमा मे चन्द्रकला ?

(ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्ती चन्द्रकला)

चन्द्रकला— दीर्घं निश्वस्य)

जइ वड्ढो णिबठ्ठो तारिसे दुल्लहे अत्थे ।
ता किं हिअअ खिज्जसि भुंजेहि अविआरिदस्स फलं ।।९।।

[यदि बद्धो निर्बन्धस्त्वया तादृशे दुर्लभेऽर्थे ।
तत् किं हृदय खिद्यसे भङ्क्ष्व अविचारितस्य फलम् ॥]

विदूषकः—एदु एदु पिअवअस्सो (इत्यग्रतो भूत्वा । पुरस्तादवलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख । इत्र ज्जेव्व सा दे पिअतमा । [एतु एतु प्रियवयस्यः (इत्यग्रतो भूत्वा । पुरस्तादवलोक्य) भोः वयस्य पश्य पश्य । इत एव सा तव प्रियतमा ।] (इत्यङ्गुल्या दर्शयति)

राजा—(विलोक्य । सहर्षम्) एतद्वदनचन्द्रावलोकनेन क्षणेन क्षयमुपगतो मे सकलोऽपि हृदयसन्तापः (पुनरवलोक्य) कः पुनरयं मदनशरसम्पात-जनितश्चित्तसन्तापोऽस्याः ?

यह धवलचन्द्र मक्खन का गोला सा दिखाई दे रहा है और इसकी किरणें दूध की धाराओं जैसी चारों दिशाओं में बरस रही हैं ।। ८ ।।

राजा—ओहो ! यह हमारे (प्रिय) मित्र की भोजन भट्टता तो अनोखी रही है । अच्छा तो मित्र, अब मुझे बतलाओ कि मेरी प्रियतमा चन्द्रकला कहाँ हैं ?

(चन्द्रकला का मदनविह्वल अवस्था में प्रवेश ।)

चन्द्रकला—(जोर से उसांसें लेकर) अरे मेरे मन, जब ऐसे दुर्लभ पदार्थ की अभिलाषा तूने अपने में संजोयी है तो फिर दुःखी क्यों हो रहा है । अब तुम अपनी विचारहीनता का फल खुद भोगो ॥ ९ ॥

विदूषक—प्रियमित्र, अब चलो । (आगे चलकर सामने देखते हुए) मित्र, देखो प्रियतमा तो तुम्हारी इधर ही आ रही है । (अपनी उंगली से दिखलाता है ।)

राजा—(देखकर प्रसन्न होते हुए) इस मुखचन्द्र को देखकर मेरा सारा सन्ताप चला गया । (फिर देखकर) पर इनके मन में मदन शर के द्वारा होने वाला सन्ताप कैसा है ?

(आ) [1] हितप्रियविप्रयोगं निरस्तरागं [2] निरुपहारमपि ।
नर्तयति स्तनयुगल सन्ततमन्तर्गतागतः श्वासः ॥१०॥

किञ्च—

जरठलवलीपाण्डुक्षामं जटालशिरोरुहं
ललितनलिनीपत्रे गात्रं निवेश्य मृगीदृशा ।
मुकुलितदृशा रागोद्भेदप्रभिन्नकपोलया
स्थितिमनसा धन्यः प्रेयान् क एष विचिन्त्यते ॥ ११ ॥

विदूषकः—भो वअस्स, तुमं वज्जिअ को अण्णो ईरिसाणुराअणिबंधणः संकिदव्वो एदाए। ण क्खु कुसुमिदं सहआरं वज्जिअं कलकठी अण्णं अहिलसेदि। ण वा चंदं वज्जिअ चंदिआए अण्णदो पसारो। [भो वयस्य, त्वां वर्जयित्वा कः अन्यो ईदृशानुरागनिबन्धनः शङ्कितव्य एतस्याः। न खलु कुसुमितं सहकारं वर्जयित्वा चन्द्रिकाया अन्यतः प्रसारः]

राजा—तत् क्षणमत्रैव लतान्तरितौ जानीवस्तावत्। (इत्युभौ लतान्तरितौ पश्यतः)

चन्द्रकला—(पुनर्निश्वस्य 'जइ वड्ढो' इत्यादि पुनः पठित्वाऽग्रतोऽवलोक्य) अम्मो, कहं दाणि [अहो, कथमिदानीम्—]

क्योंकि इसके हृदयस्थान से निरन्तर ऊपर उठकर बाहर आनेवाली साँसें इसके उन दोनों उरोजों का नर्तन करवा रही हैं जिनमें रंगों से चित्रकर्म नहीं किया गया है, प्रियवियोग के कारण अलंकार भी जिन्होंने नहीं धारण किया है ॥ १० ॥

और—(वियोगावस्था) में यह मृगनयनी अपने परिपक्व लवली फल के समान क्षीण एवं पीतवर्ण तथा संस्कार न करने से उलझी जटा से केशों वाले अपने शरीर को कोमल नलिन के पत्तों पर रख कर, अपनी दृष्टि को संकुचित कर एवं अनुराग के फूटने से रोमाञ्चित कपोल करते हुए एकाग्र चित्त से अपने किस भाग्यशाली प्रियतम का चिन्तन कर रही है ॥ ११ ॥

विदूषक—अरे मित्र, इसके अनुराग के लक्ष्य रूप में आपके अतिरिक्त किसकी आशंका हो सकती है क्योंकि कुसुमित आम्रवृक्ष को छोड़ कर चन्द्रिका कहीं अन्यत्र जाती है ?

राजा—तो भी हम लोग इस लता की ओट में छिप कर थोड़ी देर तक इसके अनुराग को देखें। (दोनों लता की ओट में छिपकर देखते हैं)

चन्द्रकला—(फिर जोरों से सांस लेकर 'जइ वड्ढो' (२।९) इत्यादि कह

---

१. रहितप्रिय—मू० पा०। २. निरपहार—मू० पा०।

एकत्तो पिअविरहो अणत्तो एस समुइदो चंदो ।
घादस्य उवरि घादो मइ एकत्तो किदो विहिणा ॥१२॥

[एकत्र प्रियविरहोऽन्यत्र एष समुदितश्चन्द्रः ।
घातस्योपरि घातो मय्येकत्र कृतो विधिना ॥]

ता दाणिं अमिअमऊहेण जधा दिसेहिं पुणो वि करजालं ण वित्थारिअदि तधा विणिवेदेमि दाव ण । [तदिदानीम् अमृतमयूखेन यथा दिक्षु पुनरपि करजालं न विस्तार्यते तथा विनिवेदयामि तावदेनम्] (इति चन्द्रं प्रति साञ्जलिबद्धम्)

तुए[1] संहरिज्जइ तमो गेण्हइ सअलेंहि दे पाओ ।
वससि सिरे पसुपइणो तहवि इत्थिअजीअणं हरेसि ॥१३॥

[त्वया संह्रियते तमः गृह्यते सकलैस्तव पादः ।
वससि शिरसि पशुपतेस्तथापि स्त्रीजीवनं हरसि ॥]

ता दाणिं मेहंतरे वि गोथेहि अत्ताणं । अलं एदिणा दुज्जणउइदेण आअरिदेण । (सरोषम्) आः कधं अदिदीणदाए मए एव्वं अब्भत्थिदो वि पुणो पुणो वि वरिसेसि मयि विससव्वलिदं किलणजालं (विचिन्त्य) हुँ जाणे जं किर बहिर-दंसिदप्पसादाणं पि कलुसिदंतराणं सभावो ज्जेअ एसो । [तदिदानीं मेघान्तरेऽपि गोपायस्वात्मानम् । अलमेतेन दुर्जनोचितेनाचरितेन । (सरोषम्) आः कथमतिदीनतया मयैवमभ्यर्थितोऽपि पुनः

कर सामने देखती है) अरे ! अब यह कैसे हो जब कि एक ओर प्रियतम का विरह और दूसरा उस पर आकास में चन्द्र का उदय हो जाना । यह तो मेरे दुर्दैव ने मानो एक चोट कर डाली है ॥ १२ ॥

तो अब इस चन्द्र को इन दिशाओं में फिर अपने किरणजाल को न फैलाने के लिए ही प्रार्थना की जाए । (चन्द्र की ओर हाथ जोड़कर)

अरे चन्द्रदेव, तुम्हारे द्वारा तम का संहार किया जाता है और उसे समग्ररूप में (या कला सहित) तुम्हारे ही पाद ग्रहण कर लेते हैं । तुम भगवान पशुपति के उन्नत भाल पर निवास करते हो फिर भी अबलाओं का जीवन (क्यों) हरण करते हो ॥ १३ ॥

इसलिये अब कुछ समय के लिये अपने आप को बादलों की ओट में छिपा लीजिये । दुष्टजन के समान (मुझसे) व्यवहार क्यों करते हैं ! (क्रोधित होती हुई) अरे ! दीनता से याचना किये जाने पर भी तुम बार बार अपनी विषमय किरणों का वर्षण करते ही चले जा रहे हो । (सोचकर)

---

१. जइ संहरिज्जईति दर्पणे पाठः ।

पुनरपि वर्षसि मयि विपसंवलितं किरणजालम् । (विचिन्त्य) हुँ जाने यत् किल बहिर्दर्शितप्रसादानामपि कलुषितान्तराणां स्वभाव एव एषः ।]

(आकाशे अञ्जलिं बद्ध्वा) हं हो कुसुमउह लीलामेत्तबसीकिदअसेसलोअ महराअ–चित्तरधो विअ कधं अदिदीणाए मइ एव्वं णिक्करुणो भविअ पुणो पुणो विक्खिवेसि विसिहजालं । [अहो ! कुसुमायुध लीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराज-चित्ररथ इव कथमतिदीनायां मयि एवं निष्करुणो भूत्वा पुनः पुर्नविक्षिपसि विशिखजालम् ।

विदूषकः–भो वअस्स, सुण दाव सुण दाव । कधं ण संभावेसि अप्पणिबंधणं एदाए अणुराबंधं । [भो वयस्य, शृणु तावत् शृणु तावत् । कथं न सम्भावयसि आत्मनिर्बन्धमेतस्याः अनुरागबन्धम् ।]

राजा – (सहर्षम्) सखे, शृणु तावत्—

एकातपत्रं वसुधाधिपत्य[1]मैन्द्रं पदं वामरवृन्दवन्द्यम् ।
मनोरथोऽध्यासितुमुत्सहेत न चेदृशश्चारुदृशोऽनुरागः ॥१४॥

चन्द्रकला—(विचिन्त्य) कधं एत्तिअं कालं विलंवेदि दीहिआदो णवलणीदल्ल मलाणाइं आणेदुं गदा मे पिअसही सुणंदणा ? [कथमेतावन्तं कालं विलम्ब्यते दीर्घिकातो नवनलिनीदलमृणालानि आनेतुं गता मे प्रियसखी सुनन्दना ।

अच्छा ! समझ गयी । वाहर से प्रसन्नता वतलाकर अन्दर कलुषित भाव रखने वालों का ऐसा ही स्वभाव होता है । (फिर आकाश की ओर हाथ जोड़ते हुए)

अरे कामदेव, आपने अपनी लीलामात्र से अनायास समग्र भूमण्डल को अपने अधीन कर लिया है और फिर भी मुझ दीनदशा वाली अबलापर अब तुम महाराज चित्ररथ के समान कठोर होकर अपने बाण चला रहे हो ।

विदूषक—प्रिय मित्र, सुन लो, सुन लो ! अब आगे बढ़कर तुम में अनुरक्त इसकी सम्भावना क्यों नहीं कहते !

राजा—(प्रसन्न होकर) मित्र, सुनो तो ।

यदि इस मनोरम चितवन वाली नायिका का अनुराग प्राप्त हो जाए तो फिर मेरा मन न तो पृथ्वी पर प्राप्त होनेवाले एकछत्र राज्य की या देवगण से वन्दित इन्द्र के पद की ही कामना कर सकता है ॥ १४ ॥

चन्द्रकला—(सोचकर) मेरी प्रियसखी सुनन्दना पास की वापिका से कमलिनी के ताजे नालदण्ड लेने गयी हुई थी पर इतनी देर के वाद भी वह क्यों नहीं लौट रही है ?

---

१. धिपत्व—मू० पा० ।

(प्रविश्य सुनन्दना)

सुनन्दना—हला, एदाइं णलिणीदलमलाणाइं उवसंमावेदु दे हिअअसंदावं । [सखि, एतानि नलिनीदलमृणालानि उपशाम्यतु ते हृदय-सन्तापम्]

चन्द्रकला—हला, अलं दाणिं एदेहिं । पुणो पुणो वि अंगेसु हलाहलं वरिसंतो इमाओ दुट्ठ-रअणीअरादो रक्खिज्जेदु असरणा अहं प्पिअसहीए। [सखि, अलमिदानीमेतैः । पुनः पुनरपि अङ्गेषु हलाहलं वर्षतोऽमुष्माद्दुष्ट-रजनीकराद् रक्षयितुमशरणाहं प्रियसख्या] (इति मूर्च्छिता पतति)

राजा—(ससम्भ्रमं समुपसृत्य) प्रिये, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

तवाननसुधाधामजितः कलुषितान्तरः ।
दहत्यतिशयं देवि त्वामेष रजनीकरः ॥ १५ ॥

सुनन्दना—(विलोक्य । सानन्दम्) दिट्ठिआ वढ्ढेमि । भट्टा, एसा क्खु सुभाअदो णोमालिआकुसुमपलिपेलआ तुह-किद-विरहवेअणा-णीसहा जम्मदो पहुदि अगणुभूददुःहसाअरणिमण्णा तवस्सिणी मे पिअसही चंदअला दाणिं अत्तणा अंगेसु ण प्पहवदि । ता करे गेण्हिअ उत्थावेदि दाव णं । [दिष्ट्या वर्द्धे । भर्तः, इयं खलु स्वभावतः नवमालिकाकुसुमपरि-पेलवा त्वत्कृतविरहवेदनानिस्सहा जन्मतः प्रभृति अननुभूतदुःखसागरनिमग्ना

(सुनन्दना का प्रवेश)

सुनन्दना—सखि, ये कमलिनी के ताजे नालदण्ड निश्चित ही तेरा संताप दूर कर देंगे ।

चन्द्रकला—सखी, अब इनकी क्या आवश्यकता । बार बार मेरे अंगों पर हलाहल वर्षण करने वाले असहाय मुझ अबला की इस दुष्ट चन्द्र से मेरी प्रियसखी रक्षा नहीं कर सकेगी । (मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है ।)

राजा—(घबड़ाकर पास आते हुए) प्रिये, धैर्य धारण करो, धैर्य ।

यह कलुषित अन्तरात्मा वाला चन्द्र आज तुम्हारे अमृत के आगार आनन से पराजित होकर बदला लेने के लिये तुम्हें जला रहा है ॥ १५ ॥

सुनन्दना—(देखकर प्रसन्न होते हुए) यह अच्छा हुआ । स्वामी यह मेरी सखी चन्द्रकला नवमालिका के पुष्प के समान मृदु प्रकृति वाली है इस-लिये आप की विरहवेदना सहन करने में असमर्थ हो चुकी है । इस बेचारी को जन्म से लेकर आज तक ऐसे दुःखसागर से कभी पाला नहीं पड़ा था ! आज वेदना के बढ़ जाने से इसे अपने शरीर तक का भान नहीं रहा है ।

तपस्विनी मे प्रियसखी चन्द्रकला इदानीमात्मनोऽङ्गेषु न प्रभवति । तत् करे गृहीत्वा उत्थापयतु तावदेनाम्] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—इदमेवोचितमिदानीम् (इति करे धृत्वा चन्द्रकलामुत्थापयन् स्पर्शसुखमभिनीय) अहो ! कथमिदानीम्—

करपल्लवसङ्गेन सममेव मृगीदृशः ।
निमग्नमिव मे स्वान्तमुदन्वति सुधामये ॥ १६ ॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्ता सुनन्दना)

सुनन्दना—हला चंदअले, तुरिदं एहि एहि । इअं क्खु देइ महाराअं णिहदतरक्खुवरं सुणिअ गिहिदअग्घा सवरिआरा इध एव्व आअच्छदि । [सखि चन्द्रकले, त्वरितं एह्येहि । इयं खलु देवी महाराजं निहततरक्षुवरं श्रुत्वा गृहीतार्घा सपरिवारा इत एवागच्छति ।] (सर्वे ससम्भ्रमं परिक्रामन्ति । चन्द्रकला कतिचित् पदानि गत्वा सोद्वेगं दीर्घञ्च निःश्वस्य परावृत्यैव राजानमवलोकयन्ती भूमौ पतति)

सुनन्दना—(ससम्भ्रममुत्थाप्य) हला, तुरिदं एहि एहि । [सखि, त्वरितमेह्येहि] (इति निष्क्रान्ते)

इसलिये अब आप स्वयं इसे अपने हाथों का सहारा देकर उठाइये । (चली जाती है)

राजा—इस समय यही ठीक है । (चन्द्रकला को हाथ से उठा कर उसके स्पर्श का अनुभव करते हुए) ओहो ! इस समय इस मृगनयनी के करपल्लव के स्पर्श करने के साथ ही तत्काल मेरा मन सुधामय सागर की लहरों में निमग्न सा हो रहा है ॥ १६ ॥

(पर्दा उठाकर घबराई हुई सुनन्दना का प्रवेश)

सुनन्दना—सखी चन्द्रकला, इधर जल्दी चली आओ । महाराज के द्वारा बघेरे के मारे जाने का समाचार सुन कर अपनी सखियों के साथ महारानी अर्घ्य आदि लेकर इधर ही आ रही है ।

(सभी घबड़ा कर घूम जाते हैं । चन्द्रकला उठ कर कुछ कदम आगे चलती है और दीर्घ उसांस लेती हुई घूम कर राजा को देखती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ती है ।)

सुनन्दना—(घबड़ा कर उठाती हुई) सखि, जल्दी इधर आ जाओ ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

राजा—(अग्रतोऽवलोक्य ससम्भ्रमम्) सखे, इयमङ्गुलिभ्रष्टा चन्द्रकलायाः मणिमुद्रिका। तदिदानीमिमामञ्चले बद्ध्वा गोपायतु भवान्। (विदूषकस्तथा करोति)

(ततः प्रविशति सार्घपात्रपरिवारा देवी रतिकला च)

देवी—हला रतिअले, तादिसो वि तरक्खु जमघरं पाविदो अज्जउत्तेण ! [सखि रतिकले, तादृशोऽपि तरक्षुर्यमगृहं प्रापितः आर्यपुत्रेण !]

रतिकला—हला, णिरुवम-धनुविज्जालहूकिदाभिमाणुअस्स तुह वल्लहस्स पुणो कीदिसो एसो तरक्खु। [सखि, निरुपमधनुर्विद्यालघूकृतभीमानुजस्य तव वल्लभस्य पुरः कीदृशः एष तरक्षुः।]

देवी—हंजे माहवीए, दंसेहि मग्गं अज्जउत्तस्स समीवगमणाअ। [चेटि माधविके, दर्शय मार्गमार्यपुत्रस्य समीपगमनाय।]

चेटी—भट्टिणि, जधा एसो दक्किणप्पदेसादो णिरुवमो मअरंदपरिमलो आअच्छेदि तधा तक्केमि इधज्जेव्व अदूरट्ठिदे असोअमंडवे भविस्सदि भट्टा। [भट्टिनि, यथा एष दक्षिणप्रदेशात् निरुपमो मकरन्दपरिमल आगच्छति तथा तर्कयामि इत एव अदूरस्थितेऽशोकमण्डपे भविष्यति भर्ता]

देवी—ता दंसेहि मग्गं। [तद्दर्शय मार्गम्]

राजा—(सामने देखकर) मित्र, देखो, चन्द्रकला की अंगुली से खिसक कर यह अंगूठी यहाँ गिर गयी है। इसे तुम अपने वस्त्र के आंचल में बाँध कर छिपा लो। (विदूषक वैसा ही करता है)

(तभी रतिकला और सेविका सहित अर्घ्यपात्र लिये महारानी का प्रवेश।)

देवी—सखी रतिकले, ऐसे बड़े बघेरे को भी महाराज ने मार गिराया।

रतिकला—अनुपम धनुर्विद्या के ज्ञान के कारण अर्जुन को भी पराभूत कर देने वाले तुम्हारे स्वामी के आगे बेचारे बघेरे की क्या बिसात।

देवी—अरी माधविके, मुझे अपने स्वामी के समीप पहुँचने के लिये जरा आगे बढ़कर रास्ता दिखलाओ।

चेटी—महारानीजी, दक्षिण दिशा की ओर यह अनुपम कमलगन्ध उठ रही है न, इससे यही विदित होता है कि महाराज अब समीप ही के अशोकमण्डप में विद्यमान हैं।

देवी—अच्छा। तो फिर उधर ही ले चल।

चेटी—एदु एदु, भट्टिणी। [एतु एतु भट्टिनि]

(इति सर्वाः परिक्रामन्ति)

रतिकला—(अग्रतः पन्थानं निरूप्य। साशङ्कम्) हला, जधा एत्थ अहिणव-सुलक्खणाए काए विअ पअपद्धदी दीसदि तहा तक्केमि तुमं गोवेत्तो भट्टा काए वि कामिणीए आसत्तो वट्टदि। [सखि, यथा इहाभिनवसुलक्षणाया कस्या इव पदपद्धतिर्दृश्यते तथा तर्कयामि त्वां गोपयन् भर्त्ता कस्या अपि कामिन्या आसक्तो वर्तते।]

देवी—(सरोषमिव) हला, कधं तए ईदिसो वि खलवअसा अविआरिदेण आचक्खीअदि। जाए जम्मणोपहुदि अक्खुण्णद तादिसाणुराअस्स अज्जउत्तस्स वि ईदिसो वि अमणोवत्ति-संभाअणिज्जो अदिक्कमो मह दुग्घड उप्पडिअदि। [सखि. कथं त्वया इदृशेन खलवचसा अविचारितेनाचक्ष्यते यया जन्मनः प्रभृति अक्षुण्णतादृशानुरागस्यार्यपुत्रस्यापि ईदृशोऽप्यमनोवृत्तिसम्भावनीयोऽतिक्रमो मम दुर्घट उत्पाद्यते।]

माधविका—पेक्खदु पेक्खदु भट्टिणी। ईधज्जेव्व असोअमंडवे पिअवअस्सेण समं किंपि किंपि मंतयदो वट्टदि एसो भट्टा। [पश्यतु पश्यतु भट्टिनी, इहैवाशोकमण्डपे प्रियवयस्येन समं किमपि किमपि मन्त्रयमाणो वर्तते एष भर्त्ता।] (इत्यङ्गुल्या निर्दिशति।)

चेटी—तो फिर महारानीजी इधर से आवें। (सभी चले जाते हैं)

रतिकला—(अपने सामने के रास्ते को दिखला कर घबराती हुई)सखि, यहाँ जो ये किसी सुलक्षणा युवती के पैरों के (ताजे) निशान दिखलाई दे रहे हैं इससे मुझे आशंका हो रही है कि कहीं महाराज तुम से छिपा कर किसी अन्य तरुणी से तो प्रेम करने नहीं लग गये ?

देवी—(क्रोध से)सखि, तुम विना विचार किये ही क्यों ऐसी दुष्ट बातें बक रही हो। तुम तो ऐसे विषमदोष की इस प्रकार उद्भावना कर रही हो जिसकी जन्म से लेकर आज तक मुझ पर अक्षुण्ण अनुराग रखने वाले मेरे स्वामी के किसी मनोभाव की न सम्भावना हो सकती है और न ही मेरे प्रति ऐसे उनके भाव का रखना ही सम्भव हो सकता है।

माधविका—महारानीजी, देखिये। यहाँ इसी अशोक वृक्ष की वेदिका पर बैठ कर अपने प्रियमित्र से विचार करते हुए महाराज विद्यमान हैं।

(अपनी उंगली से बतलाती है।)

देवी—(विलोक्य । सानन्दम्) णिहद-तारिस-त्तरक्खुणो एसो अग्घो अज्जउत्तस्स ! [निहततादृशतरक्षोः एषोऽर्घः आर्यपुत्रस्य] (इति राज्ञोऽर्घमुपनयति)

राजा—देवि, एह्येहि । अत्रोपविश तावत् ।

(देवी उपविशति)

राजा—प्रियेऽपराध्योऽस्मि भवत्याः । यतः—

भवतीं विनापि परितः
प्रसरदमलरोहिणी रमणकिरणगणरमणीयाम् ।
सम्फुल्लमल्लिकापरि-
मलमिलदलिकुलमधुरझङ्कारमुखरिताशाम् ॥१७॥

केलिवनोमिमामध्यासीन एतावन्तं कालमनयम् ।

देवी—अय्यउत्त, ण क्खु तुमं अवरद्धो किं दु अहं जाए तादिसतरक्खुअहिमुहं गच्छंदं तुमं अणणुगदुअ अंतेउरं पविट्ठं । [आर्यपुत्र, न खलु त्वमपराध्यः किन्त्वहमेवात्रापराध्या यया तादृशतरक्षत्रभिमुखं गच्छन्तं त्वामननुगम्यान्तःपुरं प्रविष्टम् ।]

विदूषकः—णिहदतादिसतरक्खुं पिअवअस्सं सुणिय किंति ण देदि

देवी—(देख कर प्रसन्न होती हुई) जिसने दुर्दमनीय बघेरे को मार गिराया उस मेरे स्वामी को मेरा यह अर्घ्य अर्पित है ।

(राजा को अर्घ्य अर्पित करती है ।)

राजा—देवी आओ यहाँ आओ । यहाँ बैठ जाओ ।

(महारानी बैठ जाती है ।)

राजा—प्रिये, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ । क्योंकि—

मैंने इस प्रमदवन में तुम्हें साथ रख कर अकेले ही बहुत समय बिता दिया जहाँ चन्द्र की निर्मल किरणों के फैलने से सुन्दरता छिटक रही है और विकसित मल्लिका के परिमल ग्रहणार्थ एकत्रित मधुकरों की सुमधुर गुंजन से दिशाएँ मुखरित हो रही हैं ॥ १७ ॥

देवी—महाराज, यह अपराध आपका नहीं मेरा है क्योंकि ऐसे बघेरे को मारने के लिये सामना करने के लिये आपके जाने पर भी आपके साथ न जाकर रनिवास में मुझे जाना पड़ा ।

विदूषक—महारानी जी, ऐसे भयानक बघेरे को मारने वाले प्रिय-

मे पारितोसिअं देइ। [निहततादृशतरक्षुं प्रियवयस्यं श्रुत्वा! किमिति न ददाति मे पारितोषिकं देवी।]

देवी—गेण्हदु पिअवअस्सो। [गृह्णातु प्रियवयस्यः] (इति कण्ठतो हारं निष्काष्य विदूषकाय प्रयच्छति)

विदूषकः—(हारमात्मनः कण्ठे निवेश्य। सहर्षम्) हो ही भो इमिणा हारेण णिउपमं सोहग्गं अहिगदो मे कंठो। ता दाणि इमं अंगुलीं इमिणा अंगुलिअएण अलंकरम्मि। [आश्चर्यम् भोः, अनेन हारेण निरुपमं सौभाग्यमधिगतो मे कण्ठः। तदिदानीमिमामांगुलीमनेनाङ्गुलीयकेनालङ्करवाणि।] (इति चेलाञ्चलाच्चन्द्रकलामुद्रिकामादायात्मनोऽङ्गुल्यां निवेश्य सगर्वमुरो विस्तीर्याङ्गुलिं प्रसारयन् देवीपरिचारिकां प्रति) दासीए दुहिदाए, पेक्खध मे सोन्देरं। [दास्याः दुहितरः प्रेक्षध्वं मे सौन्दर्यम्।]

रतिकला—(विलोक्य। जनान्तिकम्) हला, पुव्वं क्खु तए अहं असच्चभासिणी खलत्ति वहुजप्पिदा। ता पेक्ख दाणि। काए इदं अंगुलीअअं। [सखि, पूर्वं खलु त्वयाहमसत्यभाषिणी खलेति बहुजल्पिता। तत् पश्य इदानीम्। कस्याः इदमंगुलीयकम् ?]

देवी—(विलोक्य। साशङ्कम्) णं चंदअलाए! [ननु चन्द्रकलायाः!]

रतिकला—को एत्थ वि संसओ ? [कोऽत्रापि संशयः ?]

मित्र का कुशल समाचार पाकर आप मुझे पारितोषिक क्यों नहीं देतीं।

देवी—तो स्वामी के प्रियमित्र यह पारितोषिक ले लें। (अपने गले से हार निकाल कर विदूषक को दे देती है।)

विदूषक—(अपने गले में हार को पहिन कर प्रसन्नता से) ओ हो! इस माला से मेरे कण्ठ को अवर्णनीय शोभा प्राप्त होगी। इसलिये अब इस अंगुली को अंगूठी से और अलंकृत कर लेता हूँ। (अपने वस्त्र में बंधी हुई अंगूठी को निकाल कर अंगुली में पहिन लेता है और गर्व से सीना फुला कर अपनी उसी अंगूठी वाली उंगली को आगे करते हुए महारानी की दासी से) अरे दासी पुत्रियो, अब मेरी सुन्दरता तो देखो।

रतिकला—(देख कर जनान्तिक के द्वारा) सखि, आपने मुझे पहिले असत्यभाषिणी और दुष्टा कहते हुए बहुत कुछ कहा था। अब जरा ध्यान से देखिये यह किसकी अंगूठी है।

देवी—(देख कर आशंका के साथ) यह तो चन्द्रकला की है।

रतिकला—अब इसमें सन्देह तो कोई नहीं है न ?

देवी—(दीर्घमुच्छ्वस्य) अहो सव्वधा अविस्ससणीआ ज्जेव्व पुरिसा। हला रदिअले, तुरिदं एधि एधि। खणं वि एदस्स अदिदुव्विलसिदस्स अंतिए ट्ठादुं ण जुज्जदि। [अहो सर्वथा विश्वसनीया एव पुरुषाः। सखि रति कले, त्वरितमेह्येहि। क्षणमप्येतस्यातिदुर्विलसितस्यान्तिके स्थातुं न युज्यते।] (इति सत्वरमुत्थाय गच्छन्ति)

राजा - (ससम्भ्रममुपत्थायोपसृत्य करे धृत्वा)

अभिज्ञा नैव त्वं शशिमुखि विधातुं मयि रुष
विना च त्वां काचिन्नहि मदनुरागस्य विषयः।
तथापि क्षामाङ्गि स्फुरदधरबिम्बं सपदि मा-
मनामन्त्र्यैव त्वं व्रजसि कथमित्थं कथय मे।। १८।।

(देवो राज्ञो हस्तमुत्क्षिप्य सत्वरं सपरिवारा निष्क्रान्ता)

विदूषकः—(राजानमुपसृत्य) भो वअस्स, किं ति देइ तुह वि करं विक्खिविअ एत्थं सिग्घगदीए पचलिदा? [भो वयस्य, किमिति देवी तवापि करं विक्षिप्येत्थं शीघ्रगत्या प्रचलिता?]

राजा—ध्रुवं त्वत्कृतेनैव कार्येण।

विदूषकः—(सरोषम्) किं म्मए किदं? [किम् मया कृतम्?]

देवी—(जोर से उसांस लेकर) ओह! पुरुष का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। सखी रतिकले, जल्दी से इधर आओ। चलो, मैं इस धोखेबाज के साथ एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहती। (जल्दी से उठकर सभी जाने लगती हैं।)

राजा—(घबड़ा कर उठता है और महारानी का हाथ पकड़ कर रोकते हुए कहने लगता है)

अरी चन्द्रमुखी, मेरे प्रति तुम्हारे हृदय में आक्रोश का भाव रहना अनुचित होगा क्योंकि तुम्हें छोड़ कर मेरे प्रेम का कोई विषय या लक्ष्य नहीं है। और इतने पर भी हे कृशांगी, मुझसे बिना पूछे ही तुम क्रोध से अपने ओठों को फड़काती हुई वेग से जो चली जा रही हो यह क्यों? इसे तो बतलाओ ।। १८ ।।

(महारानी महाराज से अपना हाथ छुड़ा कर (अपनी) दासियों और सखियों के साथ चली जाती है।)

विदूषक—(राजा के पास आकर) प्रियमित्र, महारानी आपके हाथों को भी इस तरह झिटक कर शीघ्र यहाँ से क्यों चली गयीं?

राजा—तुम्हारे किये गये कार्यों के कारण ही।

विदूषक—(क्रोध से) मैंने क्या किया?

राजा—यतः परमं करणीयं नास्ति ।

विदूषकः—अम्मो ! किं तं ? [अहो किन्तत् ?]

राजा—इदमेव चन्द्रकलाङ्गुलीयकदर्शनम् ।

विदूषकः—(दन्तैर्जिह्वामापीड्य) अपि दाव कधं ताओ दासीदुहिदाओ ऐक्खिअ एत्थमुबगदो मं चिद्दसंमोघो । ता दाणिं एदु एदु प्पिअवअस्सो । जधा देइ प्पसाद गच्छेदि जधा अ तुह चंदअलाए पुणो वि समाअमो होदि तधा अहं ज्जेव्व संपादइस्सं । [अपि तावत् कथं ताः दासीदुहितरः प्रेक्ष्येत्थमुपगतो मां चित्तसम्मोहः । तदिदानीमेतु एतु प्रियवयस्यः । यथा देवी प्रसादं गच्छति यथा च तव चन्द्रकलया पुनः समागमो भवति तथाहमेव सम्पादयामि !]

राजा—तत् किमधुना विधेयम् ?

विदूषकः—भो वअस्स, ता दाणिं पढ़मं देवीं ज्जेव्व प्पसादेह्म । [भो वयस्य, तदिदानीं प्रथमं देवीमेव प्रसादयावः]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

राजा—ऐसा कार्य जिससे अधिक बुरा दूसरा कार्य नहीं हो सकता था।

विदूषक—ओह ! यह क्या था ?

राजा—चन्द्रकला की इस अंगूठी को दिखलाना ।

विदूषक—(दाँतों से अपनी जीभ काट कर) अच्छा तो उन दासीपुत्रियों को देखकर मेरे मन को इस प्रकार का मोह उत्पन्न हो गया होगा । खैर ! प्रियमित्र, अब तुम इस समय मेरे साथ चले आओ । महारानी को जिस किसी तरह भी मना कर चन्द्रकला से तुम्हारा पुनः मिलन करवाने का कार्य जैसे भी बनेगा वह सभी कार्य मैं ही पूर्णतः सम्पन्न कर लूँगा ।

राजा—तो फिर अभी क्या किया जाए ?

विदूषक—मित्र, हम सबसे पहिले महारानी को ही प्रसन्न करने के लिये चलें ।

(सभी का प्रस्थान)

द्वितीय-अङ्क समाप्त ।

— :o: —

अथ तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषक)

विदूषकः—ही ही भोः अज्ज क्खु मए तधा वंचअत्तेण तधा किदावराधेव्वि पिअवअस्से प्पसादं गमिदा पउदिसुउमारहिअआ देइ। ताए एव्व दाणिं चंदअला अविदिददोसा सुणंदणाए घरे गोविदत्ति कधिदं मे सुणंदणाए (विचिन्त्य) ता दाणिं विलहावत्थावाउलीकिदस्स पिअवअस्सस्स एदाए संगमे मह किलेसो लहूकिदो देईए। अवि अ मंतिदं अ मए सह सुणंदणाए। अज्ज णिसाए चंदअलां पच्छण्णरूवां केलिवणंतरे प्पवेसिअ पिअवअस्सेण समं एसा संगमिदव्वेत्ति। ता जहा दाणिं एदं सुवुत्तंत्तं देई ण जाणादि ता सहलो भविस्सेदि मे सअलो पआसो। (विचिन्त्य) अवि दाव एदं वुत्तंत्तं रक्खंतेण मए केतिअं कालं जीहाजंतणा अणुभवीअदि। (पुरोऽवलोक्य) का एसा ? इअं क्खु देइपरिआरिआ माहविआ व्विअ दीसदि। [आश्चर्यं भोः ! अद्य खलु मया तदा वञ्चकत्वेन तथा कृतापराधेऽपि प्रियवयस्ये प्रसादं गमिता प्रकृतिसुकुमारहृदया देवी। तयैवेदानीं चन्द्रकला अविदितदोषा सुनन्दनायाः गृहे गोपितेति कथितं मे सुनन्दनया। (विचिन्त्य) तदिदानीं विरहावस्थाव्याकुलीकृतस्य प्रियवयस्यस्य एतया सङ्गमे मम क्लेशः लघूकृतः देव्या। अपि च मन्त्रितं च मया सह सुनन्दनया–अद्य निशायां चन्द्रकलां प्रच्छन्नरूपां केलिवनान्तरे प्रवेश्य प्रिय-

---

(विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—ओ हो हो ! आज मैंने अपनी चालाकी से आखिर उस सहज कोमल हृदय महारानी को प्रसन्न कर ही डाला जो प्रियमित्र के अपराध के कारण रुष्ट हो गयी थीं और निर्दोष चन्द्रकला को भी जिसने बिना किसी अपराध के सुनन्दना के घर में छिपवा दिया है। पर सुनन्दना से यह बात मुझे किसी प्रकार विदित हो गयी है। (सोच कर) इस प्रकार इस समय तो महारानी ने ही चन्द्रकला के साथ मेरे मित्र महाराज के मिलन में होने वाली भारी रुकावट को कम कर डाला है और मैंने सुनन्दना से सलाह करते हुए एक बात निश्चित कर डाली है जिसके अनुसार आज ही रात्रि में चुपचाप छिपा कर चन्द्रकला को भिजवा दिया जाएगा जिससे मेरे प्रियमित्र के साथ उसका मिलन सम्भव हो जाए। अब यदि मेरे इस कार्य का पता महारानी को न लगे तो

वयस्येन समम् एषा सङ्गमयितव्या इति। तद् यदेदानीमेतं सुवृत्तान्तं देवी न जानाति तत् सफली भविष्यति मे सकलः प्रयासः। (विचिन्त्य) अपि तावदेनं वृत्तान्तं रक्षता मया कियन्तं कालं जिह्वायन्त्रणानुभूयते (पुरोऽवलोक्य) का एषा ? इयं खलु देवीपरिचारिका माधविकेव दृश्यते।]

(ततः प्रविशति माधविका। विदूषकः तां विलोक्य करेण मुखमाच्छादयति)

माधविका—(विलोक्य) अम्मो! कुदो एसो बुढ्ढो (बुढ्ढ) बंभणो मं पेक्खिअ पुणो पुणो अत्तणो वदणं ढक्केदि। ता पुच्छामि णं (इत्युपसृत्य) अज्ज, वंदामि। [आश्चर्यम् ! कुतः एष वृद्धोब्राह्मणः मां प्रेक्ष्य पुनः पुनर्वदनम् आच्छादयति ! तत् पृच्छाम्येनम् (इत्युपसृत्य) आर्य, वन्दे।]

(विदूषकः पुनस्तथा करोति)

माधविका—अज्ज, किमेवं वअणं ढिक्किअदि ? [आर्य, किमेवं वदनमाच्छाद्यते ?]

(विदूषकः पुनस्तथा करोति)

माधविका—(अञ्जलिं बद्ध्वा) पसीददु मे अज्जो। ण गोवायदु रहस्सं। [प्रसीदतु मे आर्यः। न गोपायतु रहस्यम्।]

प्रयास सफल हो जाएगा। (सोचते हुए) और इस बात को कुछ समय तक गुप्त रखने के दायित्व के कारण आज मेरी जिह्वा बड़े कष्ट में पड़ गयी है। (सामने देख कर) अरे यह कौन है ? यह तो महारानीजी की दासी माधविका सी प्रतीत हो रही है।

(माधविका आती है। विदूषक उसे देखकर दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लेता है।)

माधविका—(देख कर) अरे ! यह वृद्ध ब्राह्मण मुझे देख कर आज अपना मुँह बार बार क्यों छिपा रहा है। इसलिए जरा इससे पूछती हूँ। (समीप जाकर) आर्य प्रणाम।

(विदूषक फिर वही करने लगता है।)

माधविका—आर्य, आज अपना मुँह इस तरह आप क्यों छिपा रहे हैं ?

(विदूषक चुपचाप फिर वैसा ही करने लगता है।)

माधविका—(दोनों हाथ जोड़ कर) आर्य, मुझ पर प्रसन्न हो जाएँ और कोई रहस्य भी हो तो उसे मुझसे न छिपाएँ (यही प्रार्थना है)।

विदूषकः—भोदु । ता को वि ण जाणादु । एवं व्विअ । [भवतु । तत् कोऽपि न जानातु । एवमिव] (इति कर्णे कथयति)

माधविका—(स्वगतम्) अहो साहसो बुद्धबम्भणस्स । ताए उण गब्भदासीए सुणंदणाए कहं एवं दुक्कर आचक्खिअदि । ता देइए णिवेदिअ प्पसादं लभिस्सं (प्रकाशम्) अज्ज, गच्छेम्हि सामिणी-णिओअं अणुचलिदुं । [अहो साहसो वृद्धब्राह्मणस्य ! तथा पुनर्गर्भदास्या सुनन्दनया कथमेवं दुष्करमाचक्ष्यते । तद् देव्यै निवेद्य प्रसादं लप्स्ये (प्रकाशम्) आर्यं, गच्छामि स्वामिनीनियोगम् अनुचरितुम् ।]

विदूषकः—अहं पि दाणिं गच्छेमि समोहिदं संपादेदुं । [अहमपीदानीं गच्छामि समीहितं सम्पादयितुम् ।] (इति निष्क्रान्तौ)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन् राजा)

राजा—(सनिर्वेदं दीर्घं निश्वस्य)

आयान्तीमधिगत्य मत्परिसरं देवीं परित्यज्य मां
निर्गच्छन्त्यपि सम्भ्रमेण सुदती किञ्चित्परावृत्य सा ।
दृष्टिं यच्छति याप्युदश्रुकलुषामुत्थाय तावन्मया
तस्यास्तन्मुखमुन्नमय्य सहसा किं नाम नो चुम्बितम् ।।

विदूषक—हाँ ! अच्छा । पर तुम इसे किसी को मत बतलाना । यह है ऐसा (कान में कह देता है) ।

माधविका—(स्वगत) ओह ! इस वृद्ध ब्राह्मण का इतना हौसला बढ़ गया और वह गर्भदासी सुनन्दना भी इस तरह के काम करने लगी है । मैं यह बात महारानी जी को बतलाकर अच्छा पारितोषिक प्राप्त करूँगी । (प्रकट) अच्छा आर्य, अब मैं अपनी स्वामिनी की आज्ञाओं के अनुसार कार्य करने को जा रही हूँ ।

विदूषक—और मैं भी अपना अभीष्ट कार्य करने के लिए जाना चाहता हूँ ।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रवेशक ।

(काम-सन्तप्त अवस्था में महाराज का प्रवेश)

राजा—खेद के साथ जोरों से उसाँस लेकर) जब मेरे समीप महारानी के आने का समाचार सुनकर घबड़ाती हुई मुझे छोड़कर चली जाने वाली उस सुन्दर दाँतवाली प्रियतमा ने थोड़ा पीछे मुड़कर आँसुओं से भीगी हुई

(स्मरणमभिनीय)

श्रयति मयि समीपं स्मेरवक्त्रारविन्दं
स्फुरदधरपुटान्त दर्शितभ्रूविभेदम् ।
अलसवलिततार किञ्चिदाकुञ्चिताक्षं
कवलयति मनो मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षः ॥ २ ॥

तत् कथं पुनरवलोकयामि समदनवेदनान्धकारशमनीं प्रियतमामिमां चन्द्रकलाम् । (विचिन्त्य) तदिहैव तावत्--विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे रसालतरुतले नीलमणिशिलामध्यासीनो निर्वापयामि प्रेयसीविरहसन्तप्तमात्मानम् (इति परिक्रम्योपविश्य च) अये ! कथमसौ सहकारः समन्ततः सम्फुल्लकुसुमपरागैः प्रेयसीविरहविधुरं मामत्यन्तमुद्वेजयति । (विचिन्त्य) एष खलु मयैव चिरपालितो न लङ्घयिष्यति मे वचनम् । तदेनमेव सदैन्यं निवेदयामि । [इति साञ्जलिबद्धम्]

अपनी दृष्टि को ऊपर उठाकर मुझे देखा था तभी मैंने सहसा उसके मुख को ऊपर उठा कर (आश्वस्त करते हुए) उसे (या उसके मुख को) क्यों नहीं चूम लिया ॥ १ ॥

(स्मरण करते हुए)

जिसने मेरे समीप आ जाने पर (अपने) मुखकमल को प्रफुल्लित कर लिया, जिसमें ओष्ठपुट फड़क रहे हैं और भ्रूभङ्ग हो रहे हैं, आलस्यवश पुतलियाँ घूम रही हैं और नेत्र थोड़े संकुचित से हैं ऐसा उस कमलनयना का कटाक्ष आज मेरे मन को निगल रहा है ॥ २ ॥

तब अब मैं अपनी प्रियतमा चन्द्रकला को—जो मदनवेदना के अन्धकार की विनाशिका हो—कहाँ देखूं ! (विचार कर) तो मैं यहीं पर इसी आम्र-वृक्ष की छाँह में रखी हुई नीलमणि शिला पर बैठकर प्रिया के विरह से सन्तप्त (अपने) शरीर को शीतल करूं जहाँ (अतिशय) कुसुमों के खिलने से जोरों से सुवास फैली हुई है और जहाँ नवपल्लवों के घनेपन के कारण (छाँह बढ़ जाने से) सूर्य की किरणों का प्रवेश नहीं हो पाया है । (घूमकर बैठते हुए) अरे ! यह आम्रवृक्ष भी अपने चारों ओर खिले हुए कुसुम एवं पराग के द्वारा प्रिया के विरह से तप्त रहने वाले मुझे पीड़ित करने लगा है । (विचार कर) पर मैंने इसका पालन-पोषण किया है इसलिये यह मेरे कथन का उल्लंघन नहीं करेगा । इसलिये अपनी दीन दशा को इसे ही बतला दूं ! (अपने दोनों हाथ जोड़कर)

हं हो चूतमहीरुह त्वमिह नः स्नेहेन वृद्धिं गत-
स्तत् किं माममभिवर्षसि प्रति मुहुर्धूलिच्छलान्मुर्मुरैः ।

(विभाव्य) कथमित्थं प्रार्थ्यमानोऽपि मयि तथैव परिपन्थित्वमाचरसि । (स्मरणमभिनीय)

आँ ज्ञातं कुसुमान्यमूनि विशिखान्निर्माय पञ्चायुधः
पञ्चत्वं जगतीं नयत्यविरतं तेनावलेपस्तव ॥ ३ ॥

तदलमिदानीमचेतने भवत्यत्यन्तं कृपणताप्रकाशनेन । पञ्चायुधमेव तावत् प्रार्थये यत्प्रसादात्तवायमीदृशो गर्वः । (आकाशं लक्ष्य अञ्जलिं बद्ध्वा)

किं कन्दर्प मुखं विधाय मधुपैः पक्ष नवैः पल्लवै-
रेभिश्चूतशरैः करोषि जगतीं जेतुं प्रयासं मुधा ।
निद्रातुं शयितुं प्रयातुमथवा स्थातुं क्षमः को भवे-
देकोऽसौ कलकण्ठकण्ठकुहरे जागर्ति चेत् पञ्चमः ॥४॥

अरे रसाल ! मैंने बड़े स्नेह से पाल कर तुझे इतना बड़ा किया है तो फिर तुम बार-बार अपनी पराग उड़ाने के बहाने से इस जलते हुए भूसे को मुझ पर क्यों प्रतिक्षण बरसाने लगे हो ।

(विचार कर) और इतनी प्रार्थना करने पर भी तुम उसी तरह शत्रुता क्यों बरत रहे हो ? (याद करते हुए)

अच्छा ! अब समझा । तुम्हें इसी कारण गर्व है कि मदन तुम्हारे ही पुष्पों का तीर बनाकर संसार का सदा हनन करता है ॥ ३ ॥

तुम्हारे जैसे निश्चेतन के सम्मुख अपनी दीनता प्रदर्शित करने से कोई लाभ न होगा । अब मैं उस मदन की ही प्रार्थना करता हूँ जिसकी कृपा से तुम्हें इतना गर्व हो रहा । (आकाश की ओर लक्ष्य कर हाथ जोड़ते हुये)

ओ मदन, तुमने अपने बाणों का मुख भौरों से और उसके पंखों का नव-पल्लवों से निर्माण किया है तो फिर इन बाणों से व्यर्थ ही संसार-विजय का प्रयास करते हो । तुम्हारे इस अकेले पञ्चम स्वर कलकण्ठ (कोकिल) के सामने भी क्या कोई नींद लेने, सो जाने, चले जाने या खड़े रहने में समर्थ हो सकता है ॥ ४ ॥

(विचिन्त्य) अये, कथं त्वमपि नामैवं प्रार्थ्यमानोऽपि निशितशर-निपातेन कृन्तसि मे हृदयम् ? शृणु तावत्—

शरस्ते दुर्वारः स्मर पुरहरस्यान्तभिदुरः

फलं किं नामासावधिकमधिगन्तुं तुदसि माम् ।

(विचिन्त्य)

अलं वा दैन्येन त्वयि यदखिलस्यापि जगतो

मनो मथ्नासीति प्रथितिरिह ते मन्मथ इति ।। ५ ।।

(पुनः विचिन्त्य) कथं मयापि दुरवसितार्थप्रार्थनेनात्मा सन्तापनीयः। तथाहि—

सन्तः[1] सन्तु पराङ्मुखाः,

(सोत्कण्ठम्)

सुमुखि मां किं नाम नो भाषसे

(पुनर्विचिन्त्य) आः कथं नाम लोकेषु विवेकितया प्रथितिमासादय-तापि मया निष्फलप्रयासोऽयमनुभूयते (विचिन्त्य) तथाहि—

मूढानां वितथप्रयासपरता,

(विचार कर) और तुम इतनी प्रार्थना करने पर भी अपने तीक्ष्ण बाणों के द्वारा मेरे हृदय को छेद रहे हो । जरा सुनो तो—

अरे मदन, तुम्हारा अमोघ बाण त्रिपुरान्तक शिवजी के हृदय को वींध सकता है फिर भी मुझे कष्ट दे कर अब तुम्हें और किस फल की अधिक प्राप्ति होगी ? (विचार कर)

या फिर मुझे अपनी दीनता तुम्हें दिखलाना व्यर्थ प्रतीत हो रहा है क्योंकि संसार के समग्रप्राणियों के मन को व्यथित करने के कारण ही तुम्हें 'मन्मथ' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई है ॥ ५ ॥

(फिर विचार करते हुए) और मुझे भी दुर्लभ वस्तु की अभिलाषा करते हुए अपनी आत्मा को सन्ताप नहीं देना चाहिए । क्योंकि—

चाहे सज्जन मुझसे दूर हट जाएं (उत्कण्ठित होकर)

सुन्दरी, तुम मुझसे संभाषण क्यों नहीं करती ।

(फिर विचार करते हुए) अरे ! संसार में मेरी विवेकी पुरुष के रूप में जब प्रतिष्ठा है तो इस व्यर्थ के प्रयास को क्यों अनुभव में लाया जारहा है । (विचार कर) क्योंकि—

व्यर्थ के प्रयासों में लगे रहना मूर्खों की आदत होती है ।

---

१. सन्तोऽस्यन्तु—मू० पा० ।

(सदैन्यम्)

मा मुञ्च वामाक्षि माम् ।

(पुनर्विचिन्त्य) अलमकारणमनारतं देवीप्रकोपभीतिकातरस्य मामैव-मारम्भः । तथाहि एवं सति—देवी कुप्यत्ति,

(सोद्वेगम्)

किं प्रपृच्छसि परीरम्भं न रम्भोरु मे ।

(पुनर्विचिन्त्य । सधैर्यावष्टम्भम्)

चेतः प्रार्थयसे किमन्यसुलभम्

(सौत्सुक्योद्वेगम् । सवाष्पगद्गदम्)

हा ! क्वासि मे प्रेयसि ॥ ६ ॥

किञ्च,

हा वामाक्षि कटाक्षमारचयसि प्रेम्णा मयि प्रेयसि

(विभाव्य । सविषादम्)

स्मेरेन्दीवरगर्भतः कुत इयं निर्याति भृङ्गावलिः ॥

(दीनता के साथ) अरी स्नेह से मादक दृष्टि रखनेवाली सुन्दरी, तुम मुझे मत छोड़ो ।

(फिर विचार करते हुए) जब मैं अकारण ही महारानी के क्रोध से डरता हूँ तो फिर ऐसे कार्यों का आरम्भ व्यर्थ होगा क्योंकि ऐसा करने पर—महारानी क्रुद्ध हो जाएँगी ।

(घबड़ाहट के साथ) अरी सुन्दरी, तुम (मेरे) आलिंगन के विषय में क्या पूछना चाह रही थी ?

(फिर विचार कर धैर्यधारण कर स्थिरता के साथ) अरे मेरे मन, क्या तुम किसी सरलता से मिलने वाली वस्तु की अभिलाषा किये हो ?

(उत्सुकता और उद्वेग के साथ आँसुओं से रुँधे कण्ठ के साथ) आह ! मेरी प्रिये, तुम कहाँ हो ? ॥ ६ ॥

और भी, ओ मेरी प्रिये, तुम अपने कटाक्षपूर्ण लोचनों से मुझ प्रियतम को देखने लगी हो ।

(विचार कर खेद के साथ)

खिले हुए नील कमलों के बीच से भौरों की यह पांत कहाँ से निकल रही है ।

(ककोकिलध्वनिमनुभूय । । सवितर्कम्)

किं नाम्ना विदधासि सुन्दरि,

(निरूप्य)

कथं क्रीडापिकीनिस्वनः ?

(पुनरन्यतो विलोक्य । सहर्षम्) जितं मया ।

किं प्राप्तासि कृशोदरि,

(सनैराश्यम् । दीर्घं निश्वस्य) आः कथं मम भाग्यविपर्ययेण ।

स्तबकिनी वल्लीयमुत्पल्लवा ।। ७ ।।

(इति मूर्च्छितः पतति । पुनः समाश्वस्योत्थाय दिशोऽवलोक्य च उच्चैः कारम्) ननु भोः क्रीडावनविहारिणः तरुमृगविहङ्गमाः, जानन्ति भवन्तः कुतो मे प्रियतमेति ।

(विभाव्य) अये, कथमयमशोकश्चलता किसलयकरेण मामाकारयति । एष खलु मे कथयिष्यति प्रियतमावृत्तान्तम् । तदुपसृत्य पृच्छामि (इत्युपसृत्य ।)

(कोयल की ध्वनि सुनने की अनुभूति कर सन्देह के साथ)

सुन्दरी, तुम किस का नाम ले रही हो ।

(ध्यान से देख कर) और यहाँ इस क्रीड़ा कोकिला का आलाप क्यों हो रहा है ।

(फिर इधर उधर देख कर प्रसन्नता से) अरे ! मैं जीत गया । अरी कृशोदरी, तुम यहाँ आ ही गयी न ।

(निराशा के साथ जोर से सांस लेते हुए)

ओह ! मेरे विपरीत भाग्य के कारण यह तो गुच्छों से लदी विकसित पल्लव वाली लता है ।। ७ ।।

(मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है । फिर होश आने पर उठ बैठता है और चारों ओर देख कर जोर से) ओ इस उपवन में स्थित रहने वाले वृक्षों, पशुओं एवं पक्षियों, क्या आप मेरी प्रेयसी का पता बतला सकते हो ?

(ध्यान से देख कर) अरे ! यह अशोक वृक्ष अपने हिलते हुए पत्तों के हाथ से मुझे क्यों बुला रहा है । यह मुझे मेरी प्रियतमा का समाचार निश्चित ही बतला सकता है । तो मैं इसी के समीप जाकर पूछता हूँ । (समीप जा कर)

त्वमशोक शोकमपहृत्य मामकं
कुरु तावदाशु निजनाम सार्थकम् ।
अवलोकिताऽत्र भवता यदि सा
क्व नु विद्यते ननु निगद्यतां तदा ॥ ८ ॥

(विभाव्य) अये कथमिदानीमिहाहूय मामकथयित्वा प्रियावृत्तान्तं मौनमवलम्ब्यसे ।

(सरोषम्) अये मृषावञ्चक, तदिह न चिरादेव दावानलस्य विषयी भविष्यति भवानेकः । (पुनरन्यतो गत्वा । सवितर्कम्) नूनमनेन सर्वतश्चरता चञ्चरीकेण विदिता भविष्यति सा । तदेनमेवोपसृत्य पृच्छामि । (इत्युपसृत्य । सविनयम्)

भ्रातर्द्विरेफ भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् !
(झङ्कारमनुभूय सानन्दम्)
ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च [1]कीदृशीयम् ॥९॥

(निश्वस्य) हा निर्दय, जानामीत्युक्तवानपि अकथितप्रियावृत्तान्तः

अरे अशोक, मेरे शोक को शीघ्र दूर कर तुम अपने नाम को सार्थक करो । यदि तुमने मेरी प्रिया देखी हो तो बतलाओ कि अब वह कहाँ है ॥ ८ ॥

(पहिचान करते हुए) अरे ! मुझे यहाँ बुला कर अब तुम बिना मेरी प्रिया का कुछ भी समाचार बतलाए चुपचाप खड़े हो ।

(क्रोध के साथ) अरे ! झुठे धोखेबाज, तुम ही दावानल के शिकार होने वाले हो । (दूसरी ओर मुड़ कर आशंकित होते हुए) इस भौंरे को-जो सदा चारों ओर घूमता रहता है—उसका निश्चित ही पता होना चाहिए । तो अब मैं इसी के पास पूछने को चलूँ । (उसके पास पहुँच कर विनय पूर्वक)

अरे भाई भौंरे, तुम तो चारों दिशाओं में घूमते फिरते हो । क्या तुमने मेरी प्राणों से भी अधिक प्रियतमा को (भी) कहीं देखा है ?

(भौरों की गुंजार सुनकर प्रसन्नता से)

अरे मित्र, क्या तुम 'हाँ' कर रहे हो । अच्छा तो फिर मुझे शीघ्र बतलाओ कि वह क्या कर रही है, किधर है और उसकी दशा कैसी है ॥ ९ ॥

(निसांस लेते हुए) ओ निर्दयी, 'मैं जानता हूँ' ऐसा बतलाकर भी

१. कीदृशी सा—मू० पा० ।

कथं व्रजसि परिहाय मामशरणम् ! (सरोषम्) अये, कथं नाम केतक-कण्टकावलिग्रथितविग्रहो न मरणमधिगच्छत्ययं पाप !! (कोकिलध्वनि-मनुभूय । निपुणं विभाव्य) अये, सत्यमिदानीम्—

कुहूमाकारयत्येष कुहूकण्ठो मुहुर्मुहुः ।
तत् कथं परिदृश्येत प्रिया चन्द्रकला मम ॥ १० ॥

तदेनमेवानुनीय निवारयामि । (इति कोकिलमुपसृत्य । सविनयम्)

विश्राम्यतु कुहूकण्ठ कुहूरिति तव ध्वनिः ।
यत्तया नैति साम्मुख्यं प्रिया चन्द्रकला मम ॥११॥

(सरोषम्) आः कथं प्रार्थ्यमानोऽपि तथैव व्याहरसि ? (विचिन्त्य) भवतु । परव्यसनसंतृप्तं न पुनरेनं मलिनात्मानं प्रार्थयिष्ये । तदितोऽन्यतो गत्वापि प्रियतमामन्वेषयामि । (कतिचित्पदानि गत्वा मलयानिल-स्पर्शमनुभूय । सोद्वेगम्) अहो । किमिदानीं दरदलितकेतकपरिमलमिलद-विरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखश्चन्दनानिलोऽपि मामुत्तापयति । भवतुः तदेनमेवमनुनयामि । (इति सविनयम् ।)

मुझे बिना प्रिया के समाचार देते हुए अकेला छोड़कर क्यों भाग रहे हो । (क्रोध में) ओह ! केतकी के कण्टकों में अपने शरीर को बिंधवा कर रखने पर भी यह पापी क्यों नहीं मर जाता ! (कोकिल की ध्रुनों का अनुभव कर और ठीक से पहिचानते हुए) अरे ! इस समय तो सचमुच ही—

यह कुहू कण्ठ कोकिल अपनी कुहू कुहू की ध्वनि से बार बार 'कूहू' को बुला रहा है जिससे मेरी प्रिया चन्द्रकला का मुझे सामुख्य प्राप्त न हो पाए ॥ १० ॥

इसलिये मैं इसे नम्रता पूर्वक मनाकर (अपने कार्य से) रोकता हूँ। (कोकिल के पास पहुँच कर विनयपूर्ण स्वरों से)

अरे ! कोकिल, तुम अपनी 'कुहू कुहू' ध्वनि को बन्द कर दो, क्योंकि इसी कारण मेरी चन्द्रकला मेरे सम्मुख नहीं आ रही है ॥ ११ ॥

(क्रोध के साथ) अरे ! इतनी प्रार्थना के बाद भी तुम फिर उसी तरह बोल रहे हो (विचार कर) अच्छा जाने दो । दूसरों की विपत्ति में प्रसन्न होने वाले इस मलिन वर्ण से क्या प्रार्थना की जाए । यहाँ से आगे बढ़कर मैं स्वयं ही अपनी प्रिया को ढूंढ लूंगा । (कुछ दूर जाकर मलयानिल का स्पर्श प्राप्त कर घबड़ाहट के साथ) केतकपुष्पों के थोड़े खिलने से उनकी सुगन्ध से खिंचकर बैठे हुए भौंरों की गुंजन से दिशाओं को गुंजित करने वाला

धीरसमीरण दक्षिण सरसिजशीतल किं मां दहस्येवम् ।
(सविमर्शम्)
जाने चन्दनशैलद्विजिह्वसंसर्गदूषितस्त्वमपि ॥ १२ ॥

(नेपथ्ये)

अहो ! पश्यत । पश्यत—

आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयैः पूर्णा इवेन्दीवरै-
राकीर्णा इव चूर्णितैर्मृगमदैः पूर्णा इवाभ्रैर्नवैः ।
रुन्धानेन विगृह्य लोचनपथं मेद्येन सूचीमुखै-
राच्छन्नास्तमसा तमालमलिनच्छायेन सर्वा दिशः ॥१३॥

राजा—(निशम्य । समन्तादवलोक्य च) अये ! कथमिदानीम्—

आलोकाय भवन्ति न व्रततयो नैणा न भूमिरुहो
नाकाशं न वसुन्धरा न हरितो नाक्षाणि नाङ्गानि वा ।

यह मलयानिल मुझे अब क्यों कष्ट दे रहा है। खैर ! तो अब इसी की थोड़ी प्रार्थना की जाए। (विनयपूर्वक)

अरे धीर पवन, तुम चतुर, आज्ञाकारी और कमल के स्पर्श से अपना शरीर शीतल रखकर भी मुझे अपने स्पर्श से क्यों जला रहे हो?

(विचार कर) ऐसा प्रतीत होता है कि मलयाचल पर (विद्यमान चन्दन वृक्षों पर) स्थित सर्पों के संसर्ग के कारण तुम्हारा हृदय भी दूषित हो चुका है ॥ १२ ॥

(नेपथ्य में)

अरे ! देखो; देखो !!

तमाल के सदृश मलिन आभावाले इस अंधकार ने सभी दिशाओं को ढँक दिया है इसलिये ऐसा लगता हैं कि ये नीलवस्त्रों से आच्छादित कर दी गयी हो या नील कमलों से भर दी गयी हो या कस्तूरी की बुकनी सभी ओर बिछा दी गयी हो या काले बादलों को चारों ओर छा दिया गया हो और इसी कारण रात्रि के इस सूचीभेद्य अंधकार ने नेत्रों के मार्ग को अवरुद्ध कर दबा डाला है ॥ १३ ॥

राजा—(सुनकर और चारों ओर देखते हुए) अरे ! इस समय यह कैसे?

(क्योंकि) अभी न तो लताएँ ही दिखलाई पड़ रही हैं, न मृग, न वृक्ष न आकाश, न पृथ्वी, न दिशाएँ, न इन्द्रियाँ और न अंग ही दिखाई दे रहा है।

---

१. शैलाद् द्विजि—क० ।

रुद्ध्वानेन कुतश्चिदेत्य जगतीं कस्मादकस्मादहो
सर्वं क्वापि निरन्तरेण तमसा संहृत्य नीतं बलात् ॥१४॥

(विचिन्त्य)

दुर्लक्ष्योऽपि भवति नितरां बाणघातः परेषा-
मस्यत्वेवं कथमितरथा जायते पुष्पकेतोः ।
ध्वान्तच्छन्ने जगति परितश्चापमाकृष्य रोषा-
दित्थं यस्मादधिकमधुना मामयं निर्भिनत्ति ॥१५॥

(पुनर्विचिन्त्य) कथमिदानीं चीयते प्रियवयस्यो मे रसालकः । यतः सुहृत्प्रकाशितः खलु शिथिलीभवति सकलोऽप्यान्तरः क्लेशः ।

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः—कहिं दाणिं पेक्खामि एत्थ घोरे अधआरे कहिं पि लुढंतं मयणवेअणाउव्विग्गं पिअवअस्सं । (अग्रतोऽवलोक्य) कधं इधज्जेव्व अणवरणाहरणप्पदाअभासुलो दीसदि वादुलो विअ परिब्भमंदो एसो । ता दाणिं एदस्स पिअं णिवेदिअ सअलाणं वि मंतिवराणं सिरे चलणं दइस्सं । [कुत्रेदानीं पश्यामीहघोरेऽन्धकारे कुत्रापि लुठन्तं मदनवेदनोद्विग्नं प्रियवयस्यम् । [अग्रतोऽवलोक्य] कथमिहैवानावरणाभरणप्रतापभासुरो

कहीं से आकर सहसा इस विश्व को अवरुद्ध कर देने एवं निरन्तर घने होने वाले इस अन्धकार ने तो हठात् सभी को घर दवाया है । ॥१४॥ (विचार कर)

(किन्हीं) अन्य पुरुषों से चलाये गये वाणों का निशाना चूक सकता है परन्तु काम के वाण कभी अन्यथा लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते । जब यह क्रोध से अपने धनुष को खींच कर अंधकार से ढंके हुए विश्व में भी वाण छोड़कर मुझे बींधकर चलनी बना रहा है ॥ १५ ॥

(फिर विचार करते हुए) मैं अपने मित्र रसालक को अब कहाँ ढूढूं ? क्योंकि अपने मित्र के सम्मुख प्रकट कर देने से आन्तरिक सन्ताप हलका हो जाता है ।

(विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—अब मैं कामवेदना से इधर उधर तड़फने वाले अपने प्रिय मित्र को इस घने अँधेरे में कहाँ देखूं । (आगे देखते हुए) अरे ! यह तो यहीं घूमने वाले वातुल के समान बिना उचित वस्त्र एवं अलंकारों को धारण किये हुए प्रताप मात्र से प्रकाशित सा दिखाई दे रहा है । अब मैं इसे एक प्रिय

इव परिभ्रमन्नेषः। तदिदानीमेतस्य प्रियं निवेद्य सकलानामपि मन्त्रिवराणां शिरसि चरणं दास्यामि] (इत्युपसर्पति।)

राजा—सखे एह्येहि। कथय कथं वा मम विनोदनीयं मदनवेदना-विदूनं हृदयम्।

विदूषकः—जस्स दे अहं अदिसइद-सअलमंतिबुद्धिविहओ पिअ वअस्सो तस्स कथं मदणवेअणाए वि ओकासो। [यस्य तवाहमतिशयितसकल-मन्त्रिवुद्धिविभवो प्रियवयस्यस्तस्य कथं मदनवेदनाया अप्यवकाशः।]

राजा—कथय, कथं नाम ?

विदूषकः—एसा क्खु दाणिं ज्जेव अदूरवट्टिदं मणिमंडवं आणीदा मए सह सुणंदणाए। जइ दाणिं अतक्किदमेहमंडलीव्व कुदो वि आअदुअ देइ अंदराआ ण भोदि तहिं उपलद्धव्वा तुए चंदअला [एषा खल्विदानी-मेवादूरस्थितं मणिमण्डपमानीता मया सह सुनन्दया। यदीदानीमतर्कित-मेघमण्डलीव कुतोऽप्यागत्य देव्यन्तराया न भवति तदोपलब्धव्या त्वया चन्द्रकला।]

(ततः प्रविशति माधविकया निर्दिश्यमानमार्गा देवी रतिकला च)

देवी—हंजे, एव्वं पि णाम भवे ! [चेटि, एवमपि नाम भवेत्।]

माधविका—पेक्खदु भट्टिणी। [पश्यतु भट्टिणी] (इत्यङ्गुल्या निर्दिशति।

वार्ता सुनाकर सभी मन्त्रियों के सर पर अपना मस्तक रख देता हूँ। (समीप जाता है)

राजा—मित्र, आओ आओ। बतलाओ तो मेरे विनोद का प्रदेश और मेरी मदनवेदना के अपहारक हृदय का क्या समाचार है।

विदूषक—जब सभी मन्त्रियों को अपने बुद्धि वैभव से पराभूत कर देने वाला मुझ जैसा तुम्हारा मित्र है तो फिर मदनवेदना के लिए स्थान कहाँ !

राजा—यह कैसे ?

विदूषक—मैं उसे यहाँ से समीप विद्यमान मणिमण्डप में सुनन्दना के साथ ले आया हूँ। यदि वहाँ सहसा मेघमण्डली के समान महारानी आकर विघ्न न बनें चन्द्रकला अवश्य प्राप्त हो सकती है।

(माधविका से रास्ता बतलायी जाती हुई महारानी और रतिकला आती हैं)

देवी—सखी रतिकले, क्या ऐसा भी हो सकता है।

माधविका—महारानी जी, आप देख लीजिये। (अपनी अंगुली से उधर ही दिखलाती है।)

देवी—(विलोक्य) हला रदिअले, किं दाणिं करेम्ह ! [सखि रतिकले किमिदानीं कुर्मः !]

रतिकला—पच्छण्णा ज्जेव्व एदं अणुगच्छंतीओ सव्वं जाणह्म। [प्रच्छन्ना एवैनामनुयच्छन्त्यः सर्वं जानीमः] (इति तथा कुर्वन्ति ।)

राजा—सखे, केन पुनरुपायेन इत आनीता एषा ?

विदूषकः—ता सुणेहि। एव्वं व्व [तच्छृणु एवमिव] (इति कर्णे कथयति।)

राजा—(सहर्षम्) सखे, तदेतत्तव पारितोषिकम् (इति कङ्कणं दत्वा) तद् दर्शयेदानीं कुतः प्रियतमा ?

(ततः प्रविशति सोत्कण्ठा चन्द्रकला सुनन्दना च)

चन्द्रकला—(सनिर्वेदं दीर्घं निश्वस्य) हला, अआरणं कीस मं पुणो पुणो वंचअन्ती किलिसेसि ? अहं दाणिं इमाए असोअ-साहाए कंठे लतापासं उब्बंधिअ अत्ताणं वावादेमि। मा मा मं दाणीं णिवारेहि। [सखि, अकारणं किमिति मां पुनः पुनर्वञ्चयन्ती क्लेशयसि ? अहमिदानी-मस्यामशोकशाखायां कण्ठे लतापाशमुद्बध्यात्मानं व्यापादयामि। मा मामिदानीं निवारयस्व।]

सुनन्दना—हला, मा उत्तम्ह। मह वअणेण खणं पि पडिवालेहि भट्टिणो आअमणं।] सखि, मा उत्ताम्य। मम वचनेन क्षणमपि प्रतिपाल-यस्व भर्तुरागमनम्।]

देवी—(देख कर) सखी रतिकले, इस समय अब हम क्या करें ?

रतिकला—हम छुप कर इनका पीछा करने पर सारी बातें जान लेगें। (सभी वैसा करती हैं)

राजा—मित्र, उसे तुम यहाँ किस तरह ले आये ?

विदूषक—तो सुनो। इस तरह। (कान में कहता है)

राजा—(प्रसन्न होकर) मित्र, तो यह लो तुम्हारा पुरस्कार। (अपना कंकण दे कर) अच्छा, अब बतलाओ मेरी प्रियतमा कहाँ है ?

(उत्कण्ठित दशा में चन्द्रकला का सुनन्दना के साथ प्रवेश)

चन्द्रकला—(खिन्न होकर दीर्घ उसांस लेती हुई) सखी, तुम बिना कारण बार बार छल करती हुई क्यों मुझे सता रही हो ! अब मैं इसी अशोक-वृक्ष की शाखा पर लतापाश बाँध कर (उसमें अपने) गले को बाँध कर अभी लटक जाती हूँ। अब तुम मुझे मत रोकना।

सुनन्दना—सखि, अपने मन को अधिक संताप क्यों दे रही हो। थोड़ी देर तक मेरे कहने से और स्वामी के आने की प्रतीक्षा तो करो।

विदूषकः—एदु एदु प्पिअवअस्सो। [एतु एतु प्रियवयस्यः] (इत्युभौ परिक्रामतः) (सर्वाः अनुक्रामन्ति)

विदूषकः—पेक्खदु पेक्खदु पिअवअस्सो। एसा सा अत्तणो ज्जेव्व अंगकंतिए मह-अंधआरे वि पआसिदा दे पिअदमा। [पश्यतु पश्यतु प्रियवयस्यः। एषा सा आत्मनः एवाङ्गकान्त्या महान्धकारेऽपि प्रकाशिता ते प्रियतमा]

राजा—(विलोक्य। सहर्षम्) अये, अस्याः खलु—

बिम्बस्यासुकृतेन दन्तवसनं मत्तेभकुम्भद्वय-
स्यापुण्येन पयोधरौ कुवलयस्याकर्मणा चक्षुषी।
इन्दोर्भाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दावलेरेनसा
दन्ताली कदलीतरोश्च दुरितेनोरुद्वयं निर्मितम् ॥ १६ ॥

किञ्च—

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजयं नीतवतीति रोषात्।
कण्ठीरवोऽस्याः कुचकुम्भतुल्यं मत्तेभकुम्भद्वितयं भिनत्ति ॥१७॥

देवी—(निःश्वस्य) अहो! म-अहिणिवेसो एदाए दुट्ठकण्णआए

विदूषक—प्रियमित्र, तुम इधर आओ।

(दोनों घूमते हैं। सभी उनके पीछे पीछा करती हुई घूम जाती हैं।)

विदूषक—मित्र देखो। यही है तुम्हारी प्रियतमा जो इस घने अंधेरे में भी अपने शरीर की आभा से (अलग ही) चमक रही है

राजा—(देख कर प्रसन्न होते हुए) अरे! बिम्बफल को अपने कर्म के फल भोगने के लिए विधाता ने इसके ओठ बना दिया है, मदमत्त गजराज के दोनों कुम्भों को अपने पुनर्जन्म में इसके दोनों उरोज बन जाना पड़ा है, और नील कमल इसके नेत्र हो गये हैं, चन्द्र को भाग्य के पलटने के कारण इसके मुख के रूप में आ जाना पड़ा और कुन्द पुष्पों की पांत और कदली वृक्ष को अपने कर्म-विपाक के कारण क्रमशः इसकी दन्तावली और जंघाएं बन जाना पड़ा है ॥ १६ ॥

और—मेरी कटि को इस तनुमध्या ने निश्चित ही पराभूत कर डाला ऐसा समझ कर सिंह इसी कामिनी के उरोज कलशों की समानता रखने वाले गजराज के गण्डस्थलों को (खीझ के कारण आज भी) विदीर्ण करता रहता है ॥ १७ ॥

देवी—(जोर से उसांस भर कर) ओह! इस दुष्ट कन्या में महाराज

अज्जउत्तस्स। हला, ता एहि इम भित्तिए अंदरिदा उवरिवुत्तन्तं पेक्खह्न। [अहो! महाभिनिवेशोऽस्यां दुष्टकन्यायामार्यपुत्रस्य। सखि, तदेहि। इह भित्यान्तरिता उपरिवृत्तान्तं पश्यामः] (इति सर्वा अन्तरिताः पश्यन्ति)

राजा—सखे, तदेहि। निर्वापयामो मदनसन्तप्तमात्मानमनया। (इत्युपसर्पतः)

चन्द्रकला—(विलोक्यसवकितव्रीडं सहसोत्थाय मुखं नमयन्ती सानन्दमात्मगतम्) अम्महे! जं किर एवं जीविदं हलाहलं ति संभाविदं ता दाणि कधं मह भाअधेएण अमित्तणेण पलिणद! [आश्चर्यम्! यत् किलेदं जीवितं हलाहलमिति सम्भावितं तदिदानीं कथं मम भागधेयेन अमृतत्वेन परिणतम्!]

राजा—

वैलक्ष्यस्य भवत्यसाववसरो नैतावतस्तेऽधुना
किं नामाननचन्द्रमानमयसि प्राणाधिके प्रेयसि।
एभिर्गाढमनङ्गमञ्जुलगृहैरालङ्ग्य मामङ्गकैः
एणप्रेक्षणि पञ्चबाणविशिखक्षीणं विनिर्मापय ॥ १८ ॥

देवी—(रतिकलां तिर्यगवलोक्य) हला, पुणो वि इमं आलविस्सदि अज्जउत्तो। [सखि, पुनरपि एनामालपिष्यत्यार्यपुत्रः]

इतने आसक्त हो चुके हैं। सखि, इधर आओ। हम इस दीवाल की ओट में छिप कर खड़े खड़े आगे की घटना देखें। (सभी छिप कर देखने लगतीं हैं)

राजा—तो मित्र आओ। हम इससे कामानल से सन्तप्त अपनी आत्मा को शान्ति दे लें। (दोनों आगे बढ़ जाते हैं)

चन्द्रकला—(देख कर आश्चर्य और लज्जा से अपने मस्तक को झुका कर। (स्वगत) अरे! मैंने अपने जिस जीवन को हलाहल विष समझ लिया था आज वही मेरे भाग्य के पलटने से अमृत हो उठा है।

राजा—प्रिये, समय लजाने का नहीं है फिर तुम अपने मुखचन्द्र को इस प्रकार क्यों झुका रही हो। अरी हरिणनयने, तुम काम के बाणों से जर्जर शरीर वाले मुझे अपने काम के मञ्जुल आगार अंग को गाढ़ आलिंगन दे कर शान्ति प्रदान करो ॥ १८ ॥

देवी—(रतिकला की ओर तिरछी दृष्टि से देख कर) सखि, क्या इससे महाराज और भी कुछ कहेंगें।

सुनन्दना—हला, किं एव्वं पणिवज्जसि ? करेहि दाव भट्टिणो वअणं। [सखि, किमेवं प्रतिपद्यसे ? कुरुष्व तावत् भर्तुः वचनम्]

माधविका—भट्टिणि, सुण दाव तुह वीससणीआए वअणं। [भट्टिनि शृणु तावत् तव विश्वसनीयाया वचनम्]

देवी—हञ्जे, कालसप्पिणी किर णीलमणिमालारूवेण वसदि त्ति को जाणादि ? [चेटि, कालसर्पिणी किल नीलमणिमालारूपेण वसतीति को जानाति ?]

चन्द्रकला—(सगद्गदस्वरम्) हला, देइप्पओवभीदेहिं महाराहेहिं अह्माणं को वीसासो ? [सखि, देवीप्रकोपभीते महाराजेऽस्माकं कः विश्वास ?]

देवी—(श्रुत्वा) अम्मो. मह प्पिअसहीए पिअसहित्तअं एदं। [अहो ! मम प्रियसख्याः प्रियसखित्वमेतत्]

राजा—

प्रेमबन्ध-निबद्धा मे न देवी न च मेदिनी।
इतः प्रभृति तन्वङ्गि त्वमेव मम जीवितम् ॥ १९ ॥

देवी—(निशम्य सास्रम्) हला रतिअले, एवं पि मए सहेदि। [सखि रतिकले, एतदपि मया सह्यते।]

सुनन्दना—सखी, तुम चुपचाप ऐसे क्यों बैठी हुई हो। जो महाराज कह रहे हैं उसे क्यों नहीं पूरा करती।

माधुविका—महारानी जी, अपनी विश्वासपात्र दासी के शब्दों को ध्यान देकर सुनिये।

देवी—दासी, यह नीलम की माला के रूप में कालसर्पिणी निकल जाएगी ऐसा पहिले कौन समझाता था।

चन्द्रकला—(रुंधे हुए कण्ठ से) सखि, ये महाराज तो महारानी के क्रुद्ध होने पर डरने वाले प्राणी है। इन पर विश्वास कैसे किया जाए !

देवी—ओह ! यह है। हमारी प्रिय सखी की यही मिताई है।

राजा—अब मुझे महारानी और पृथ्वी दोनों ही अपने प्रेम बन्धन में आबद्ध नहीं कर सकती है। अरी कृशाङ्गी, आज से केवल तुम्हीं मेरा जीवन हो ॥ १९ ॥

देवी—(सुनकर रोते हुए) सखी रतिकले; अब मुझे यह सभी सहना पड़ेगा।

रतिकला—हला, पुरिसभसलाणं[1] सुहावो एसो जं किर णवं णवं एव्व अणुधाअंदि। [सखि, पुरुषभ्रमराणां स्वभाव एषः यत् किल नवं नवमेवानुधावन्ति।]

चन्द्रकला—सहि सुणंदणे, देइं पेक्खिअ सव्वं क्खु विस्समेरि स्सेदि महाराओ। [सखि सुनन्दने, देवीं प्रेक्ष्य सर्वं खलु विस्मरिष्यति महाराजः]

देवी—हला, सुणेहि दाव सुणेहि। अज्जउत्तस्स दंसणमेत्तकेण वि एदाए दुट्ठकण्णआए एव्वं विहाणि आलविदाणि। [सखि, शृणु तावत् शृणु। आर्यपुत्रस्य दर्शनमात्रकेणापि एतस्या दुष्टकन्यकाया एवं विधान्यालपितानि]

रतिकला—सहि, एव्वं पदं। [सखि, एवमेतत्]

राजा—प्रिये, किमेवं व्यावहरसि ? अद्यप्रभृति निदेशवर्ती तवायं जनः।

विदूषकः—(सहर्षम्) अम्महे, जइ एदाए पिअवअस्सो अण्णाकरः ता सव्वा अवि अंदेउरिणिओ अण्णाकारिणीओत्ति। [आश्चर्यम्। यदि एतस्याः प्रियवयस्य आज्ञाकरः ततः सर्वा अप्यन्तःपुरिण्यः आज्ञाकारिण्यः इति]

देवी—(सरोषमुपसृत्य) आः राअवअस्स महाबह्मण, अहं वि एदाए अण्णाकरिणी त्ति। [आः राजवयस्य महाब्राह्मण; अहमप्येतस्या आज्ञाकारिणीति] (इति पुनः पुनरधिक्षिपति)

चन्द्रकला—(सभयोत्कम्पम्) अम्मो ! किं दाणिं आपदिदं ? [अहो ! किमिदानीमापतितम् ?]

रतिकला—सखी, पुरुष का भ्रमर जैसा स्वभाव होता है और वे सदा नवीन वस्तु की ओर दौड़ पड़ते हैं।

चन्द्रकला—सखी सुनन्दना, ये महाराज महारानी को देखने पर सभी बातें भूल जाएंगे।

देवी—सखी, जरा सुनो तो। आज महाराज के केवल दर्शन मिलजाने से ही यह दुष्ट कन्या इतना बकने लगी है।

रतिकला—सखी, तुम ठीक कहती हो।

राजा—प्रिये, तुम ऐसा क्यों कहती हो। आज से मैं तुम्हारा आज्ञाकारी सेवक हूँ।

विदूषक—(प्रसन्नता से) अहा ! जब हमारे मित्र इनके आज्ञाकारी सेवक हो गये तो फिर सारी रनिवास में रहने वाली इसकी दासी बन ही गयी हैं।

महादेवी—(क्रोध के साथ आकर) ओ राजा के मित्र दुष्ट ब्राह्मण क्या अब मैं भी इसकी आज्ञा में रहूँगी। (बार बार डाँटती है)

चन्द्रकला—(भय से काँपती हुई) अरे ! यह सब क्या हो गया !

---

१. भमराणं—मू० पा०।

सुनन्दना—(सभयोत्कम्पम्) अहो, किं दाणिं करिस्सं ! [अहो ! किमिदानीं करिष्यामि ?]

विदूषकः—(सोद्वेगम्) भोदि, मा अह्मेहिं कुप्प । [भवति, मास्मभ्यं कुप्यस्व]

राजा—(सनिर्वेदमात्मगतम्) इदानीं खलु चेतनापि मे नात्मनो वशंवदतामवलम्बते ।

देवी—हला रदिअले, हंजे माहविए, एसो क्खु दुट्ठो बह्मणो एदा क्खु गम्भदासी सुणंदणा दुवे वि एक्केण व्व लदापासेन एक्किकी कदुअ बुट्ढा गण्हीद । इअं अ दुट्ठकण्णआ अत्तणो एव्व ओत्तरीएण हत्थे सुदिड्ढं अप्पीड आणेहि । [सखि रतिकले, चेटि माधविके, एष खलु दुष्टब्राह्मणः इयं गर्भदासी सुनन्दना द्वे अपि एकेनैव लतापाशेनैकीकृत्य बद्ध्वा गृह्णीताम् । इयञ्च दुष्टकन्यका आत्मन एवोत्तरीयेण हस्ते सुदृढमापीड्य आनीयताम्] (उभे तथा कुरुतः)

विदूषकः—अच्चरिअं अच्चरिअं ! कहं बंधणादो वि एदाए गब्भदासीए सुणंदणाए कठोरत्थणभरेण आपीढ़णं गुरुअं मह अंगं बाधेदि । [आश्चर्यमाश्चर्यम् । कथं बन्धनादप्येतस्याः गर्भदास्याः सुनन्दनायाः कठोरस्तनभरेणापीडनं गुरुकं मेऽङ्गं बाधते] ।

देवी—हला रदिअले, हञ्जे माहविए, एदाहिं दाणिं अग्गदो कदुअ गच्छेहि । [सखि रतिकले, चेटि माधविके, एतानीदानीमग्रतो कृत्वा गच्छथ] (इति राजवर्जं निष्क्रान्ताः)

सुनन्दना—(भय से काँप कर) ओह ! अब क्या करें ।

विदूषक—(खिन्न होते हुए) महारानी जी, आप हम पर क्यों नाराज हो रही हैं ?

राजा—(खिन्न होते हुए । स्वगत) अब तो मेरी चेतना भी नियन्त्रण से बाहर होने लगी है ।

देवी—सखी रतिकला और दासी माधवी, इस दुष्ट ब्राह्मण और इस गर्भदासी सुनन्दना को एक ही लतापाश में मिला कर कसते हुए बाँध कर ले चलो । और इस दुष्ट कन्या के इसी के दुपट्टे से दोनों हाथ कस कर बाँधो और ले चलो । (दोनों वैसा ही करती हैं)

विदूषक—अरे ! इस गर्भदासी सुनन्दनाके साथ मिलाकर बँधने से मेरा शरीर इसके कठोर उरोजों से दबकर बड़ा कष्ट पा रहा है ।

देवी—सखी रतिकले और दासी माधविके, तुम दोनों इन्हें अपने आगे रख कर ले चलो । (राजा को छोड़ कर सभी चले जाते हैं)

राजा—(सनिर्वेदं दीर्घमुच्छ्वस्य)

देव्याः प्रेक्ष्य समक्षमन्यवनितासङ्गं ममैतादृशं
मानस्त्याजयितुं कथन्नु भविता शक्योऽतिभूमिं गतः ।
बद्ध्वानीयत वल्लभा च सुहृदा सार्द्धं मुधा मत्कृते
निर्गच्छन्निव नाशको[1]ऽपि सहसा तत् किं विधेयं मया ॥२०॥

(विचिन्त्य) तदलमिदानीमत्र स्थित्वा । पुरमेव प्रविश्योपायं चिन्तयामीति । (इति निष्क्रान्तः)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

राजा—(दुःखी होकर जोरों से उसाँस लेते हुए)

मेरे इस प्रकार के दूसरी प्रेयसी के साथ मिलन को अपने सामने देखने वाली महारानी के बढ़े हुए मान को छुड़वाना कैसे सम्भव हो सकता है। और मेरे कारण ही मित्र के साथ प्रियतमा को भी बाँधकर ले जाया गया । इस कारण सहसा यह नहीं बन रहा है और ऐसी अवस्था में जब कि विनाश स्वयं अचानक उपस्थित हो तो मैं क्या करूँ ॥ २० ॥

(विचार कर) यहाँ ठहरने से अब कोई लाभ नहीं है इसलिये नगर में जाकर ही इसका कोई उपाय सोचूंगा । (जाता है)

(सभी का प्रस्थान ।)

तृतीयाङ्क समाप्त ।

---

१. नासनोऽपि—मू० पा० ।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति निर्विण्णो राजा)

राजा—(दीर्घमुच्छ्वस्य)

[1]पीतं कर्णपुटद्वयेन गरलं भृङ्गीनिनादाभिदं
प्रालेयांशुकरच्छलासु दहनज्वालासु गात्रं हुतम् ।
भूयो भूय इति स्वयं विदहता[2] नीता मया यामिनी
निर्याताः कथमश्मसारकठिनास्तत्रापि नैवासवः ॥१॥

आलप्य वञ्चनपरं बहुचाटुगर्भ-
मेष स्थितोऽस्मि चिरमङ्घ्रितले निपत्य ।
आलीजनैरभिहिताऽपि तथा मदर्थं
देवी कथञ्चन पुनर्न गता प्रसादम् ॥ २ ॥

(विचिन्त्य सकरुणं निश्वस्य । आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा)

हे दुर्दैव यदा चिरस्य भवतो भूयोऽपराद्धं मया
तन्मय्येवमनारतं प्रहरतो वक्षे न किञ्चित्तव ।

(खिन्न राजा का प्रवेश)

राजा—(जोरों से उसांस लेते हुए) भौरों की गुंजार के नाम से सुना जाने वाला गाना आज मेरे कानों के लिए विष हो गया है। मेरा शरीर हिमकिरण की शीतल किरणों के भ्रम से आग में जल चुका है और इसी दशा में वार वार जलते हुए मैंने आज सारी रात बिता दी पर फिर भी आश्चर्य है कि ये मेरे वज्र के समान कठोर प्राण क्यों नहीं निकले !

अनेक वञ्चना एवं चाटुकारिता से भरे वचनों में आलाप करते हुए उनके पैरों पर गिर कर देर तक रहने पर भी और सखियों से मेरी इस दशा पर ध्यान देने की वात महारानी को कहलवाने पर भी अभी तक न तो वह प्रसन्न ही हुई ओर न क्रोध ही उतर पाया ॥ २ ॥

(सोचकर और करुणा के साथ उसांस भर कर)

अरे मेरे दुर्भाग्य, जब तूने उठ उठ कर मुझ पर वार किया तो अब इस मेरे अपराध के वारे में तुझे कुछ भी कहना मैं उचित नहीं मानता हूँ। पर

---

१. गीतम्-इति पाठः; २. विदधता—इति पाठः ।

बद्ध्वाङ्गेषु दृढं शिरीषकुसुमप्रायेषु यत् प्रेयसी
नीताजीवितसंशयं कथय तत् किं वा कृतं तेऽनया ॥३॥

(पुनर्निश्वस्य सास्रम्) हा ! वयस्य, त्वमपि मत्कृते जीवितमपहारयिष्यसि !

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः—(राजानं प्रति उपेत्य) सोत्थि भोदु पिअवअस्सस्स।
[स्वस्ति भवतु प्रियवयस्याय]

राजा—(विलोक्य । सहर्षम्) दिष्ट्या जीवति प्रियवयस्यः ।

विदूषकः—भो वअस्स देइ विण्णावेदि—"मह तादस्स णअरादो एत्थ वंदिणो समाअदाओ। ते दाणिं अय्यउत्तसहिदाए मह दस्सणसमुस्सुकाओ वट्टेदि। अहं पि सुइरअहिगद-वंधुउल-वत्तंत्तं सुणिदुं उक्कंठिआ ह्मि। ता जइ तुह रोअदि तह, मए सह अब्भंदरत्थाणमणिमंडवेहिं उट्ठिदाणं ताणं वंदिजणाणं ओआसं पदिज्जेदु अज्जउत्तो" त्ति। [भो वयस्य, देवी विज्ञापयति—"मम तातस्य नगरादिह वन्दिनः समागताः। ते इदानीम् आर्यपुत्रसहिताया मम दर्शनसमुत्सुका वर्तन्ते। अहमपि सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्तं श्रोतुमुत्कण्ठिता। तद् यदि ते रोचते तदा मया सहाभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे उपविश्य तेषां वन्दिजनानामवकाशं प्रयच्छतु आर्यपुत्रः" इति]

जो शिरीषपुष्प के समान कोमलांगी प्रियतमा के अंगों को जोरों से बांध कर कसते हुए उसकी ऐसी दशा कर दी कि उसके प्राण संशय में आ गये तो बतला कि उन बेचारी ने तेरा क्या विगाड़ा था ॥ ३ ॥

(फिर उसांस लेकर रोते हुए) ओह ! मित्र, तुम्हारा भी मेरे कारण जीवन नष्ट होगा।

(विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—(राजा के समीप आ कर) प्रियमित्र, तुम्हारा कल्याण हो।

राजा—(देख कर प्रसन्न होते हुए) अरे ! सौभाग्य से मेरा प्रियमित्र जीवित है।

विदूषक—मित्र, महारानी ने निवेदन किया है कि मेरे पिताजी की नगरी से (आज) यहाँ वन्दीगण आये हुए हैं और इसी समय वे आपके दर्शन मेरे साथ करने के लिए अति उत्सुक हो रहे हैं और मैं भी अपने सम्बन्धियों के कुशल समाचार बहुत समय के बाद प्राप्त होने के कारण उनसे बातें करने को उत्सुक हो रही हूँ। तो यदि मेरे साथ रनिवास के मणिमण्डप में बैठकर आप उन आगत वन्दिजन के साथ संभाषण का अवसर देंगे तो अच्छा होगा।

राजा—(निशम्य । सहर्षम्) सखे, तथा दुरपनोदामर्षवशंवदाया अयमपि मे महाप्रसादो देव्याः । तत् कथय कथं नाम बन्धनान्मुक्तो भवान् ?

विदूषकः—अत्तणो एव्व सोबंह्मणस्स प्पआदेण । [आत्मन एव सुब्राह्मण्यस्य प्रसादेन !]

राजा—तथापि कथम् ?

विदूषकः—कहं त्ति । अले, मंतसीहीणा ! [कथमिति ? अरे, मन्त्र-सिद्धया ।]

राजा—अलं परिहासेन । स्फुटं कथय ।

विदूषकः—किं अण्णं ! बंधुउलजणागमणहरिसेण तहा अणुइदं णिक्किदं तुमं एव्व अज्ज आसासिदुं ! [किमन्यत् ! बन्धुकुलजनागमनहर्षेण तथा-नुचितं न्यक्कृतं त्वामेवाद्याश्वासयितुम्]

राजा—उचितमेवेदं तथाभिजात्यस्य देव्याः । कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य कञ्चुकी)

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—कञ्चुकिन्, सत्वरं निवेद्यताममात्यः सत्वरमभ्यन्तरस्थानमणि-

---

राजा—(सुनकर प्रसन्न होते हुए) मित्र, यह तो उस महारानी की अपने ऊपर कृपा ही मानता हूँ जिसका मेरे प्रति क्रोध का दूर होना तक दुष्कर था । अच्छा ! अब यह तो बतलाओ कि बन्धन से तुम कैसे छूट गये ?

विदूषक—अपने ही उत्कृष्ट ब्राह्मणत्व के प्रताप से ।

राजा—फिर भी कैसे ?

विदूषक—किस तरह ? अरे, मन्त्रसिद्धि से ।

राजा—अच्छा, अब अधिक परिहास रहने दो । साफ साफ बतलाओ ।

विदूषक—और क्या होगा । अपने बन्धुजन के मिल जाने से प्रसन्न हो कर और उस समय आपको अनुचित रूप में अपमानित कर देने से आज पुनः अपने अनुकूल करने और आश्वस्त करने के ही लिए मुझे छोड़ दिया ।

राजा—यह महारानी का कार्य तो निश्चित ही उनके उच्चकुल के अनुरूप ही हुआ है । अरे, यहाँ कोई है ?

(कञ्चुकी आता है ?)

कञ्चुकी—महाराज, क्या आज्ञा है ?

राजा—कञ्चुकी, महामन्त्री को निवेदन करो कि वे रनिवास के मणि-

मण्डपसज्जीकरणाय निषेधाय च सकलपुरुषाणाम् आहूयताञ्च माधविकाम् ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निक्रान्तः)

(प्रविश्य माधविका)

माधविका—(सप्रणामम्) जेदु जेदु भट्टा । [जयतु जयतु भर्त्ता]

राजा—माधविके, इदानीमवश्यं खलु देव्या निदेशेनाभ्यन्तरमणिमण्डपं साधयामः । तदाहूयतां तत्रैव देवी ।

माधविका–जं आणवेदि भट्टा । [यदाज्ञापयति भर्ता] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—सखे, तद्दर्शय पन्थानं मणिमण्डपस्य ।

विदूषकः—एदु एदु पिअवअस्सो । [एतु एतु प्रियवयस्यः] (इत्युभौ परिक्रामतः)

विदूषकः—पेक्खदु पेक्खदु दाव पिअवअस्सो । एसो तुह अब्भंदरत्थाणमणिमंडवालंकिदो सोहो । [पश्यतु पश्यतु प्रियवयस्यः । एष तवाभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपालंकृतः सौधः]

राजा—(विलोक्य । सहर्षम्) अथ कथमयमद्य—

दीप्तोऽनन्तमणिप्रभाभिरभितः पातालशङ्काकरो
भास्वत्काञ्चनभूभृदञ्चितरुचिर्भूलोकतुल्याकृतिः ।

मण्डप को सुसज्जित करें और सभी का प्रवेश वहाँ न होने दें और माधविका को यहाँ बुला लाओ ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । (जाता है ।)

(माधविका आती है)

माधविका—(प्रणाम करती हुई) महाराज की जय हो ।

राजा—माधवी, हम महारानी की इच्छा के अनुसार रनिवास के मणिमण्डप पर पहुँच रहे हैं इसलिए तुम वहीं महारानी को बुला लाओ ।

माधविका—स्वामी की जैसी आज्ञा । (जाती है)

राजा—मित्र, तुम मणिमण्डप का रास्ता बतलाते चलो ।

विदूषक—तो प्रियमित्र, चलो ।

विदूषक—मित्र, उधर देखो । यही वह इमारत है जिसके भीतरी भाग में मणिमंडप शोभित हो रहा है ।

राजा—(देख कर प्रसन्न होते हुए) ओहो ! आज मेरा यह प्रसाद चारों ओर मणियों की आभा की जगमगाहट के कारण पाताल की आशंका को उत्पन्न

आसीनः सुमनश्चयेन सुरभिः स्वर्लोकजातोपम-
स्त्रैलोक्यानुकृतिं तनोति नितरामास्थानसौधो मम ॥४॥

विदूषकः—ता तुमं दाणिं एदं आक्कम्मिअ अणुकरेहि महिंदत्तणं। [तत् त्वमिदानीमेतमाक्रम्यानुकुरु महेन्द्रत्वम्] (इत्युभावारोहणं नाटयतः) एदं समणिमंडवत्थंबं अलंकरेदु पिअवअस्सो। [एतं समणिमण्डपस्तम्भमलङ्करोतु प्रियवयस्यः]

राजा—(नाट्येनोपविश्य) सखे, उपविश तावत्।

(विदूषकः यथोचितमुपविशति)
(ततः प्रविशति सपरिवारा देवी)

देवी—(राजानं प्रति) जेदु जेदु अय्यउत्तो। [जयतु जयत्वार्यपुत्रः]

राजा—प्रिये, उपविश तावत्।

देवी—(यथोचितमुपविश्य) आणवेदु अय्यउत्तो मह पिदुणो णअरचंदिणं समागअणाणं। [आज्ञापयत्वार्यपुत्रः मम पितुर्नगरवन्दिनां समागमनाय]

राजा—कः कोऽत्र भोः ?

करने लगता है, सुवर्ण की दीप्ति से चमकने वाले काञ्चनगिरि (सुमेरु) की शोभा धारण करने के कारण यह मृत्युलोक सा लग रहा है और सुमनस्समूह के चतुर्दिक् स्थित होने से यह सुन्दर स्वर्लोक सा (भी) दिखलाई देने के कारण यह त्रैलोक्य की अतिशय शोभा का आश्चर्यजनक विधा से विस्तार करने लगा है ॥ ४ ॥

विदूषक—तो फिर आप इसमें इन्द्र की भूमिका में आसीन हो जाइये। (दोनों आरोहण करने का अभिनय करते हैं) जब आप इस मणिखचित स्तम्भों वाले मणिमंडप को सुशोभित कीजिये।

राजा—(बैठ कर) मित्र, तुम भी बैठ जाओ।

(विदूषक यथोचित स्थान पर बैठ जाता है। तभी महारानी अपने सारे (उपयुक्त) परिवार सहित प्रवेश करती है।)

देवी—(राजा को देख कर) महाराज की जय हो।

राजा—प्रिये, बैठो।

देवी—(यथोचित स्थान पर बैठती हुई) अब महाराज मेरे पिताजी की नगरी से आने वाले बन्दिगण को बुलवाने का आदेश दें।

राजा—यहाँ कौन है ?

कञ्चुकी—(प्रविश्य) आज्ञापयतु देवः ।

राजा—कञ्चुकिन्, त्वरितं प्रवेशय पाण्ड्यदेशादागतौ बन्दिनौ ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य बन्दिभ्यां सह प्रविशति[1])

बन्दिनौ—(राजानं प्रति दूरतः सप्रणामं करावुन्नमय्य) जयतु जयतु देवः । देव, ब्रह्मायुर्भव ।

एकः—

मूर्द्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-
द्भूताम्भःक्षोददम्भात् प्रसभमभिनभः क्षिप्तनक्षत्रलक्षम् ।
ऊर्ध्वन्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेश-
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शुभं[2] ताण्डवं शाम्भवं ते ॥५॥

विश्वस्ताः कटकच्छन्ना मुक्ताहारविभूषणाः ।
अरोषेऽपि सरोषेऽपि त्वयि देव रिपुस्त्रियः[3] ॥ ६ ॥

कञ्चुकी—(प्रवेश करते हुए) महाराज, आज्ञा दीजिए ।

राजा—कञ्चुकी, पाण्ड्यदेश से आये हुए बन्दियों को यहाँ शीघ्र उपस्थित करो ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । (जाता है और बन्दियों के साथ फिर लौट आता है ।)

बन्दीगण—(दोनों हाथ उठाकर दूर से राजा को प्रणाम करते हुए) महाराज की जय हो । महाराज, ब्रह्मायु प्राप्त करें ।

एक बन्दी—भगवान शिव का वह ताण्डव नृत्य आपको मंगलदायक हो जिसमें मस्तक पर घूम कर शब्द करने वाली गंगा की चंचल तरंगमालाओं के द्वारा चारों ओर छिटके हुए जलबिन्दुओं के व्याज से मानों असंख्य नक्षत्रगण आकाश में फेंके जा रहे हों तथा ऊपर उठाए हुए पैर को घुमाने के कारण उत्पन्न होने वाले वेगवान पवन के चक्कर में गिर कर ब्रह्माण्ड भी जिसमें घूमने लगा हो ॥ ५ ॥

दूसरा बन्दी—हे महाराज, आपके प्रसन्नता और क्रोधावस्था में होने पर भी शत्रुओं की पत्नियाँ सदा विश्वस्त, कटक से संयुक्त और मुक्ताहार से विभूषित होने के कारण एक दशा में (ही) रहा करती हैं ॥ ६ ॥

---

१. प्रविश्य— । २. शिवं— । ३. अस्मादनन्तरम्—अलिकुललुहिलकलाले तुह कलवाले गतावलिभिन्ने । कुलति पिअगनुगपेसं निगपलपति पिसकेत-पासुपाते ॥

अरिकुलरुधिरकराले तव करवाले ।
कुलस्त्री.... पाशुपाते ॥

बन्दिनौ—राज्यं मुञ्चति मरहट्टः कोषं कोशलो न पृच्छति। आन्ध्रो विशति गिरिरन्ध्रम्। अङ्गः अङ्गणमपि न पृच्छति। भङ्गः पतति हावङ्गः। बङ्गः सप्ताङ्गं न सज्जयति। पञ्चगौडः पञ्चत्वं लभते।

गुज्जओ न गज्जइ। उत्तालतालकलवाल परिपंथिसत्थहत्थहुँ झडिदि। अरिराअमत्तगअसिंघजइ पुण्णं भोदु हअवरं आरोहदु। [गुर्जरो न गर्जति। उत्तालतालकरवालः परिपन्थिशक्तहस्तात् स्खलति। अरिराजमत्तगज-सिंहजयि, पुण्यं भवतु हयवरमारोहतु]।

राजा—बन्दिनौ, कुशलं पाण्ड्येश्वरस्य ?

बन्दिनौ—देवस्य प्रसादेन कुशलमेव सप्तस्वङ्गेषु नः स्वामिनः किन्त्वेकमेव दारुणं दुःखमधिगत्य सकलमेव सुखं दुःखमेव मन्यमानो वर्तते नो भर्त्ता।

देवी—अम्मो ! किं णु मह तादस्स दारुणो दूहो ? [अहो ! किन्नु मम तातस्य दारुणं दुःखम् ?]

बन्दिनौ—यत् किल वनविहारावसरे देव्याः समानोदर-प्रभा काचित् कुमारिका केनचिदपहृत्य नीता। यतो हि—

बन्दीगण - मरहट्टदेश का राजा अपना राज्य छोड़ कर भागता है, कोसल का राजा अपने कोश की देखभाल नहीं कर पाता है, आन्ध्र का राजा (भय से) पर्वत की कन्दराओं में छिप जाता है, अङ्ग का राजा अपने भूभाग की सीमा की परवाह नहीं करता है, हावङ्ग का राजा टूट कर नीचे गिर पड़ता है, वङ्ग का राजा अपनी सेना के सप्ताङ्गों को सज्जित करने लगता है और पञ्चगौड़ देश का राजा मरने लगता है।

गुर्जर का राजा गर्जन नहीं कर पाता, शत्रुओं के बलशाली हाथों में युद्धार्थ उठायी हुई तलवार गिरने लगती है। जो शत्रुरूपी मत्तसिंह के विजेता! आपके यहाँ पुण्य सदा बना रहे और श्रेष्ठ अश्वों पर सवारी करते रहो।

राजा—वन्दियों, पाण्ड्य के महाराज कुशलपूर्वक तो हैं ?

बन्दीगण—आपकी कृपा होने के कारण हमारे महाराज के सातों अंगों में कुशल है पर वे आजकल एक दारुण दुःख में फँसे हुए हैं जिसके कारण सम्पूर्ण सुखों के उपलब्ध रहने पर भी उन्हें दुःख समझते हुए उन्हें रहना पड़ रहा है।

महादेवी—अरे ! मेरे पिताजी को ऐसा कौन सा दारुण दुःख हो गया।

बन्दीगण—क्योंकि वनविहार के समय आपके समान ही (बहिन होने से) सुन्दर स्वरूप वाली उनकी राजकुमारी का किसी ने अपहरण कर डाला। क्योंकि—

आभरणं भुवनानां कषणं निर्माणनैपुणस्य विधेः ।
मदनं युवनयनानां निवासभवनं सुलक्षणानां सा ॥ ७ ॥

देवी—(सास्रम्) वहिणी, कुदो उण वट्टेदि ! [भगिनि, कुतः पुनर्वर्तते ?] ।

राजा—बन्दिन्, तदानीमन्वेषिता नैव सा ?

बन्दिनौ—सर्वतः खलु तदन्वेषणाय प्रहिताश्चारद्विजबन्दिनो भर्त्रा ।

राजा—तदेतावन्तं कालमधिगतो न वानन्तरो वृत्तान्त एतस्या ?

बन्दिनौ—अवधारयतु देवः । अनन्तरमान्ध्रदेशप्रहितैः विप्रवर्यैः प्रतिनिवृत्यास्मत्स्वामिनः पुरत कथितम्—एषा किल वनविहारक्रीडावशेन कुतोऽपि संहतिभ्रष्टा एकाकिनी केनचित्शबरेणाधिगत्यान्ध्रदेशारण्यवासिने निजस्वामिने समर्पिता ।

देवी—(ससम्भ्रमम्) तदो तदो ? [ततस्ततः]

बन्दिनौ—ततः शबराधिपेन कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयायाः विन्ध्यवासिन्याः समुचितोऽयमुपहार इति सहर्षमात्मनो निवेशने स्थापिता ।

वह संसार का अलंकरण, विधाता की निर्माणकुशलता का परीक्षण-निषक, युवजन के नयनों की मादक और सुलक्षणजन की आवासभूमि थी ॥ ७ ॥

महादेवी—(रोती हुई) वहिन, अब तुम कहाँ हो ?

राजा—बन्दियों, उसी समय उसकी खोज पड़ताल हुई या नहीं ।

वन्दीगण—हमारे स्वामी ने उसे ढूंढ़ने के लिये चारों ओर चर, ब्राह्मण तथा वन्दिगण रवाना कर दिया है ।

राजा—तो फिर इतने समय के बाद भी उसका कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ ?

वन्दीगण—महाराज, आगे सुनिये । इसके बाद आन्ध्र देश में भेजे गए ब्राह्मणों ने लौट कर हमारे स्वामी को बतलाया कि वह वनविहार के समय अपनी सखियों का साथ छूट जाने के कारण जब अकेली रह गयी तभी एक शबर ने उसे देखा और उसे पकड़ कर आन्ध्रदेश के अरण्य में निवास करने वाले शबराज को ले जाकर समर्पित कर दिया ।

महादेवी—(घबड़ाकर) तो फिर !

बन्दीगण—तब उस शबराज ने उसे यह विचार कर कि—'अगली कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को की जाने वाली विन्ध्यवासिनी देवी की बलि के लिये यह उपयुक्त बलि होगी' प्रसन्नता से स्वीकार कर अपने निज भवन में सुरक्षित रूप में रखा ।

देवी—(निश्वस्य । सोद्वेगम्) भइणि, तुमं पि विंज्झवासिणीए उवहारी हुविस्सेदि । [भगिनि, त्वमपि विन्ध्यवासिन्या उपहारीभविष्यति] (इति रोदिति)

राजा—बन्दिन्, कथय । ततस्ततः ?

बन्दी—अनन्तरं कृष्णपक्षचतुर्दश्यां भगवत्या विन्ध्यवासिन्याः पुरस्तादुपवेश्योद्यमितनिशितकरवालेनैकेन करेण शबरस्वामिना इतरेण करेण केशेष्वाकृष्य कुररीव सकरुणं सोद्वेगमुच्चकैः रुदन्ती 'कुमारिके, स्मरेष्टदेवताम्' इतीयं भणिता ।

देवी—(सोद्वेगम् । सास्रम्) हा भहिणि, ओसाणं वि गच्छेसि । [हा भगिनि! अवसानमपि गच्छसि] (इति[1] शिरस्ताडयन्नुच्चकैः रोदिति)

राजा प्रिये, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । पृच्छामस्तावदुपरितन-वृत्तान्तम् ।

देवी—पुच्छेदु अय्यउत्तो । अहं उण अत्तओ वि ण पहवम्हि [पृच्छत्वार्यपुत्रः । अहं पुनरात्मनोऽपि न प्रभवामि]

राजा—बन्दिन् कथय । ततस्ततः ?

बन्दी—ततो यात्राप्रतिहतस्य तत्रभवतो देवस्य विक्रमाभरणाख्यस्य

महादेवी—(जोर से उसांस लेकर) बहिन, तुम अवश्य ही विन्ध्यवासिनी की बलि बन गयी होगी !

राजा—बन्दीगण, आगे क्या हुआ (इसे शीघ्र) बतलाओ ।

बन्दीगण—फिर कृष्णचतुर्दशी के दिन भगवती विन्ध्यवासिनी देवी के सम्मुख उसे बिठा कर शबरराज ने एक हाथ में तीक्ष्ण तलवार ले ली और दूसरे हाथ से उस कन्या के केश पकड़ कर कुररी के समान करुण क्रन्दन करने वाली उस कन्या को खींचते हुए कहा—'कुमारी, अब तुम अपने इष्ट देव का अन्तिम स्मरण कर लो' ।

महादेवी—(घबड़ाकर रोती हुई) हाय बहिन, अब तुम मरने जा रही हो । (अपना सर पीट कर रोने लगती है)

राजा—प्रिये, धैर्य धरो । अब हम इसके आगे का समाचार पूछ रहे हैं ।

महादेवी—इसे तो महाराज पूछते रहें । अब मैं अपने (मन) पर नियन्त्रित नहीं रख सकती ।

राजा—बन्दी, कहो । आगे क्या हुआ ?

बन्दीगण—तब विजय यात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले आपके विक्रमा-

---

१. सोरस्ताडमुच्चकै—मू० पा० ।

सेनापतेः केनचिद् विन्ध्यवासिनोदर्शनार्थं गतवता खड्गधारिणानुचर-पुरुषेण समालोक्य तं दुरात्मानं शबरस्वामिनं देव्याः प्रत्युपायनतत्परं निकृत्य समानीय च कन्यां तां सेनापतये निवेदिता। तेन च श्रीमतः साम्राज्याधिकृतस्य श्रीमदमात्यसुबुद्धेः सम्मुखं प्रहितेयमिति कथितमस्मत्स्वामिपुरतो विप्रवर्यैः।

देवी--(निश्वस्य। सानन्दम्) वंदीअर, गेण्ह एदं पालितोसिअं। [बन्दिवर, गृहाणेदं पारितोषिकम्] (इति बन्दिने आभरणानि दत्वा) ता कहेहि। एदं वुत्तंत्तं सुणिअ किं पडिवण्ण पिदुणा ? [तत्कथय। एतं वृत्तान्तं श्रुत्वा किं प्रतिपन्नं पित्रा ?]

वन्दी--शृणोतु भर्तृदारिका। अनन्तरञ्चैवं निवेद्य प्रहिता वयं श्रीमतश्चरणसन्निधिं पाण्ड्येश्वरेण—'एषा खलु सकलभूपालमौलिमणिरञ्जित-चरणारविन्दस्य मे जामातुश्चित्ररथदेवस्यैवोचितेति। तदमात्यस्य गोचरेण सुविहितं विधिना। तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च वसन्तलेखा अनुजानाति तदा मदनुमत एव गृह्णातु पाणिमस्याः देवः' इति।

भरण सेनापति का एक सैनिक (सेवक) अपने हाथ में तलवार लिये हुए विन्ध्यवासिनी के दर्शन के लिये उसी मन्दिर में पहुँचा और वहाँ उसने देवी के समक्ष उस दुष्ट शवराधिप को बलि चढ़ाने में लगे हुए देखा और युद्ध में उसे मार कर कन्या को अपने साथ लेकर सेनापति को सारी घटना सुना दी। उसने भी आपके साम्राज्य के महामन्त्री सुबुद्धि को इस घटना की सूचना देते हुए कन्या को उनके समीप भेज दिया। यह समाचार ब्राह्मणों ने हमारे महाराज को दे दिया।

महादेवी—(सन्तोष से सांस लेते हुए आनन्द में भर कर) वन्दियों; यह लो अपना पारितोषिक। (अपने भूषण निकाल कर वन्दियों को देते हुए) तो अब बतलाओ इस समाचार को सुनकर पिताजी ने क्या (निश्चय) किया ?

वन्दी—तो भर्तृदारिका अब आगे सुनें। इसके बाद पाण्डच के महाराज ने हमें आपके समीप भेजकर निवेदन किया है—यह कन्या हमारे उन जामाता चित्ररथ देव के लिए उपयुक्त है जिनके चरणारविंदों को समस्त राजाओं के द्वारा अपने मस्तक झुकाकर अनुरंजित किया जाता है। और भाग्य ने स्वयं यह कार्य आपके महामन्त्री के द्वारा करवा लिया है। इसलिये ब्राह्मणों ने जिसका समाचार प्रेषित किया था उस कन्या के साथ पाणिग्रहण कर लेने की स्वीकृति जब वसन्तलेखा प्रदान करे तभी मेरी आज्ञा से आप इसके साथ पाणिग्रहण सम्पन्न कर लें।

देवी--अय्यउत्त, ता दाणिं अमच्चं च्चेअ आकारिअ पुच्छदु। कुदो एसा त्ति ? [आर्यपुत्र, तदिदानीममात्यमेवाकारयित्वा पृच्छतु। कुत एसा इति ?]

राजा--कञ्चुकिन्, आहूयताममात्यः।

कञ्चुकी- यदाज्ञापयति देवः।

(इति निष्क्रम्यामात्येन सह प्रविशति)

अमात्यः--(राजानमवलोक्य) अये कथमिह महाराजः ? तथाहि--

हरिरिव विबुधाभिनन्दितोऽसौ
शिशिरमरीचिरिवाश्रयः कलानाम्।
तपन इव परासहप्रतापः
शिव इव भूतिविभूषितो [1]विभाति ॥ ८ ॥

(दूरतः सप्रणामम्) जयतु जयतु देवः !

राजा--सुबुद्धे, अलमनेनान्तरङ्गभूतस्य भवतोऽपसरणेन। तदेह्येहि। त एवोपविश तावत्।

(अमात्यः सविनयमुपसृत्य यथोचितमुपविशति)

महादेवी--महाराज, अभी आप महामन्त्री को बुलवा कर पूछ लें कि वह कन्या कहाँ है।

राजा--कञ्चुकी, जाओ महामन्त्री को बुला लाओ।

कञ्चुकी--जैसी महाराज की आज्ञा।

(जाता है और मन्त्री के साथ फिर प्रवेश करता है।)

मन्त्री--(राजा को देख कर) अरे यहाँ महाराज कैसे बैठे हुए हैं ? क्योंकि--इस समय विद्वानों से अभिनन्दित होने से ये स्वयं देवों से अभिनन्दित इन्द्र के समान लग रहे हैं और चन्द्र के समान समस्त कलाओं के आश्रय बने हुए हैं, (ये) सूर्य के समान दूसरों के प्रताप को सहन करने में अक्षम हैं और शिव के समान भूति से विभूषित होकर सुशोभित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

(दूर से ही प्रणाम कर) महाराज की जय हो।

राजा--सुबुद्धि, आप तो हमारे अन्तरंग पुरुष हैं इसलिए आपका दूर रहना ठीक नहीं। आप यहाँ आकर बैठिये।

(मन्त्री विनयपूर्वक समीप आकर यथोचित स्थान पर बैठ जाते हैं)

---

१. बिभर्त्ति--क०; मू. पु. च.।

राजा—सुबुद्धे, कथयतु कुत एषा कन्यका या खलु विक्रमाभरणेन ते प्रेषिता ?

अमात्यः—देव, कथं नाम स्वामिनोऽपि सम्मुखे वितथालापः। तदवधारयतु देवः। इयन्तु गुणाधिकारलक्षणैरनन्यरूपेत्याकलय्य तत्काले तु—

"यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति।

लक्ष्मीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति॥" इत्यमानुषीं गिरमाकर्ण्य स्वामिने देया परिणायनीयेत्याकाङ्क्षमाणेन देवीप्रकोपभीरुणा च स्वयमशक्नुवता मया "मम वंशजेयं सखीपदे स्थापनीयेति" (कृत्वा) देव्यै समर्पिता। तथा चान्तःपुरचारिणीमिमावलोक्य स्वयमेव परिणेष्यति महाराज इति।

(राजा देव्याः मुखमवलोकयते)

देवी—अय्यउत्त, जा किर एदेण समप्पिदा सा एव्व एसेति पुच्छ दाव बंदिणं किं णामधेआ एसा मह भइणि त्ति। [आर्यपुत्र, या किल एतेन समर्पिता सैवैषेति पृच्छ तावत् बन्दिनं किन्नामधेया एषा मम भगिनीति ?]

राजा—सुबुद्धि, जरा बतलाओ तो। जिस कन्या को विक्रमाभरण ने आपके पास भेजा था वह कहाँ है ?

मन्त्री—महाराज, अपने स्वामी के समक्ष अब छिपाने की आवश्यकता नहीं रही इसलिये आपको सभी बातें बतलाता हूँ। उसे देखकर मैंने तुरन्त यह समझ लिया कि गुण, लक्षण एवं स्वरूप में असामान्य यह कन्या है। तभी एक दिव्यवाणी भी मुझे सुनाई दी—

'जिस महीपति का इस कन्या के साथ पृथ्वी पर जब विवाह होगा तभी लक्ष्मी स्वयं उपस्थित होकर उसे वर देगी।' और इस प्रकार की दिव्यवाणी को सुनकर मेरी इच्छा प्रबल हो गयी कि ऐसी सुलक्षणा कन्या का विवाह अपने स्वामी से करवाया जाए परन्तु महारानी के क्रोध से भीत से होने से स्वयं को ऐसा करने में असमर्थ समझ कर मैंने महारानी के समीप उसे यह बतलाकर रख दिया कि 'यह मेरी सम्बन्धिनी कन्या है इसलिये आप इसे सखी बना कर अपने पास रख लीजिये'। महाराज जब इसे रनिवास में घूमती हुई देखेंगे तो वे स्वयं ही अवसर आने पर इससे विवाह कर सकेंगे।

(महाराज महारानी की ओर देखते हैं)

महादेवी—महाराज, जरा इन बन्दीगण से पूछिये कि जो कन्या मन्त्री ने मुझे सुपुर्द की थी क्या वही यह कन्या है और इस कन्या का नाम क्या है ?

राजा—वन्दिन्, किन्नामधेया सा पाण्ड्येश्वरस्य दुहिता ?

वन्दी—देव, चन्द्रकलेति ।

राजा—(निशम्य सानन्दम् । स्वगतम्) कथं मम प्रियतमा चन्द्रकलेव (विचिन्त्य) सत्यमेतत् ।

कनकं मणिगणखचितं घनसारो वासितः कुसुमैः ।
द्राक्षामृतेन सिक्ता चन्द्रकलायाः कुले जनिर्महति ॥९॥

देवी—(निशम्य स्वगतम्) अहो ! किं क्खु भणिस्सदि मह तहा णिग्घिणाणि आअरिदाइँ सुणिय जणओ । (प्रकाशम्) अय्यउत्त, ता दाणिं एदयो पुरो दंसिअ जाणव्वं जा मह अमच्चेण समप्पिदा एसा सा ण वेत्ति ? [अहो ! किं खलु भणिष्यति मे तथा निर्घृणान्याचरितानि श्रुत्वा जनकः । (प्रकाशम्) आर्यपुत्र, तदिदानीमेतयोः पुरो दर्शयित्वा ज्ञातव्यं या ममामात्येन समर्पिता एषा सा नवेति ?]

राजा—यद् रोचते भवत्यै ।

देवी—(जनान्तिकम्) हला रदिअले, ता दाणिं तुमं तुवरिदं गदुअ बंधणादो मुक्किय सज्जिय अ सह सुणंदणाए एत्थ आणेहि चंदअलं । [सखि रतिकले, तदिदानीं त्वं त्वरितं गत्वा बन्धनान्मोचयित्वा सज्जीकृत्य च सह सुनन्दनयात्रानय चन्द्रकलाम्]

राजा—बन्दी, पाण्ड्यराज की उस कन्या का क्या नाम बतलाया था तुमने ?

बन्दी—महाराज, उसका नाम चन्द्रकला है ।

राजा—(सुन कर आनन्द में भर कर स्वगत) अरे ! यह तो (वही) मेरी प्रियतमा चन्द्रकला ही है । विचार कर) यह ठीक भी है—

उत्तमवंश में चन्द्रकला का उत्पन्न होना मणि से जटित स्वर्ण सा या पुष्पों की सुगन्ध से संसक्त कपूर हो अथवा अमृतरस से सिक्त द्राक्षा-सा है ॥ ९ ॥

महादेवी—(सुनकर अपने मन में) अरे मेरे पिता उसी के साथ मेरे निर्दय व्यवहार की बात सुनकर मुझे क्या कहेंगे । (प्रकट) महाराज, उसे यहाँ लाकर प्रत्यक्ष इन्हें दिखलाइये कि जो कन्या मुझे मन्त्री जी ने सुपुर्द की थी वही यह है भी ।

राजा—तुम्हें जैसा भी ठीक लगे वही करो ।

महादेवी—(जनान्तिक के द्वारा) सखी रतिकले, तुम अभी शीघ्र जाकर चन्द्रकला के बन्धन छुड़वा कर सुनन्दना के साथ वस्त्रादि से सज्जित कर यहाँ ले आओ ।

रतिकला—जं आणवेदी पिअसही। [यदाज्ञापयति प्रियसखी] (इति निष्क्रम्य समलंकृतां सुनन्दनाद्वितीयां चन्द्रकलामादाय प्रविशति)

राजा—(विलोक्य सानन्दं सस्पृहम् । स्वगतम्)

पंचबाणविजयाधिदेवता लोकलोचनचकोरचन्द्रिका ।
सृष्टिरद्भुतकरीयमीदृशी निर्मिता कथमिव प्रजासृजा ॥१०॥

बन्दिनौ—(विलोक्य सानन्दं सास्रम्) वत्से, सान्तःपुरस्य पाण्ड्येश्वरस्य भाग्योदयेन समागतासि नौ नयनगोचरम् ।

(चन्द्रकला विलोक्य बाष्पमुत्सृजति)

देवी—(उत्थाय निविडं परिष्वज्य) समस्ससिहि बहिणी समस्ससिहि । अदिणिग्घणाए मए अकालणं पलिपीडिदस्सि । [समाश्वसिहि भगिनि, समाश्वसिहि । अतिनिर्घृणया मयाऽकारणम्परिपीडितासि] (इत्युभे बाष्पमुत्सृजतः)

देवी—(स्वगतम्) अलं दाणिं मह पुणोव्वि तहा कठोरेण वअसिदेण । ता सुअं एव्व मए अज्जउत्तस्स समप्पिदव्वा एसा । एव्वं क्खु अत्तणो महत्तणसंवादणं मादापिदराणं कंक्खिदसाहणं ताए कदत्थिदाए वहिणीए आसासणं भत्तुणो जोइदसंसआदो पलिरक्खणं, परमलच्छी संआदणं अ होन्ति । (इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा ! प्रकाशम्) अय्य उत्त,

---

रतिकला—प्रियसखी की जो आज्ञा । (जाती है और सुनन्दना के साथ चन्द्रकला को लेकर प्रवेश करती है ।)

राजा—(आनन्द और स्पृहा पूर्वक देख कर स्वगत)

स्मर के विजय की अधिष्ठात्री देवी एवं प्रजाजन के लोचन-चकोरों की चन्द्रिका रूप इस आश्चर्यमयी का ब्रह्मा ने कैसे सर्जन कर डाला !

वन्दीगण—(देखकर प्रसन्नता से आँखों में अश्रु भरते हुए) पुत्री, आज तुम पाण्ड्येश्वर एवं उनके अन्तःपुर के परिजन के सौभाग्य के उदय हो से हमें दिखलायी दे रही हो ।

(चन्द्रकला उन्हें देख कर रोने लगती है)

महादेवी—(उठकर चन्द्रकला से आलिङ्गन करती हुई) बहिन, शान्त हो जाओ । मेरी क्रूरप्रकृति के कारण निरपराध ही तुम पीड़ित की गयी हो (दोनों मिलकर रोती हैं)

महादेवी—(स्वगत) अब और अधिक क्रूरता अपनी ओर से करना उचित नहीं है इसलिए मुझे ही इसे महाराज को समर्पित करना चाहिए । ऐसा करने से स्वयं का महत्व बना रहेगा और माता-पिता की इच्छा की पूर्ति

मादापिदरां मह वि अणुमदीए करे। दाणिं गेण्ह एदां। [अलमिदानीं मम पुनरपि तथा कठोरेण व्यवसितेन। तत् स्वयमेव मयार्यपुत्राय समर्पयितव्यैषा। एवं खल्वात्मनो महत्त्वसम्पादनं मातापित्रोरपि काङ्क्षितसाधनं तथा कदर्थिताया भगिन्या आश्वासनं भर्तुर्जीवितसंशयात् परिरक्षणं, परमलक्ष्मीसम्पादनञ्च भवन्ति (इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा। प्रकाशनम्) आर्यपुत्र; मातापित्रोर्ममाप्यनुमत्या करे इदानीं गृहाणैनाम्] (इति राज्ञे समर्पयति)

राजा—(सहर्षम्) अहो ! महाप्रसादो देव्याः (इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)

(नेपथ्ये शङ्खध्वनिः। सर्वतो दुन्दुभिशब्दः)

बन्दिनौ—जयतु जयतु देवः। दिष्ट्या चन्द्रकलापाणिग्रहणेन सर्वथानुगृहीतः पाण्ड्येश्वरो देवेन।

राजा—(सर्वतो विभाव्य। साश्चर्यम्) अये। कथमिदानीम्—

दृश्यन्ते द्युतयोऽपि विद्युत इव श्रूयन्त एतानि च
भ्राम्यद्भृङ्गरुतानि कङ्कणझणत्कारेण मिश्राण्यहो।
अभ्येति द्विपगण्डमण्डलगलद्दानाम्बुकल्लोलिनी-
गन्धेन द्विगुणीकृतः परिमलः पाथोरुहाणामपि ॥११॥

होकर इस दुःखी बहिन को आश्वासन (भी) मिल जाएगा, अपने स्वामी की सन्दिग्धता से मुक्ति होगी और उत्तम लक्ष्मी की प्राप्ति भी होगी। (चन्द्र कला का हाथ अपने हाथ में लेकर प्रकट रूप में) महाराज, मेरे माता-पिता एवं मेरी सहमति से आप इसका पारिणग्रहण करें। (राजा को हाथ समर्पित करती है)

राजा--(प्रसन्न भाव से) ओह ! यह महारानी की कृपा हुई है। (चन्द्रकला का पाणिग्रहण कर स्पर्श का अनुभव करता है।)

(नेपथ्य में शंखध्वनि होती है एवं चारों ओर से दुन्दुभि वजती है।)

बन्दीगण--महाराज की जय हो, जय हो। ईश्वर की कृपा से चन्द्रकला का पाणिग्रहण कर आपने पाण्ड्येश्वर को सर्वथा अनुगृहीत कर दिया है।

राजा—(चारों ओर देखकर आश्चर्य के साथ) अरे ! इस समय यह क्या हो रहा है। क्योंकि—बिजली की तेज चमक दिखाई देने लगी है और कंकण की झङ्कार से मिली हुई घूमनेवाले भौरों की गुञ्जार सुनाई दे रही है और कमलों की सुगन्ध से मिलकर हाथी के गण्डस्थल से निस्सृत मदजल की स्रोतस्विनी का गन्ध द्विगुणित परिमल धारण करते हुए बहता चला आ रहा है ॥ ११ ॥
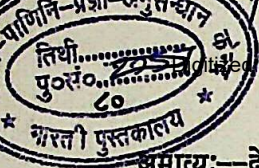
अमात्यः--देवदेव, अहमेवं मन्ये। इदानीं खलु समदकरिकुलकलित-कनककलशमुखविगलदविरलपीयूषधाराभिरासिच्यमाना करकलितकमल-परिमलमिलदलिपटलझङ्कारमुखरिताशान्तरा प्रणयप्रणतनिखिलसुरासुर-मुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरणनखरा भगवन्मुकुन्दहृदया-नन्दसन्दोहकन्दलीकन्दभूता दलितकमलदललोचना अपाङ्गतरङ्गविश्रा-णनाय त्रिभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीः साक्षादभ्युपैति भवन्तमस्याः सुलक्षणायाः परिग्रहानन्दवशंवदेति। (सर्वे निशम्य सत्वरमुत्तिष्ठन्ति। ततः प्रविशति परितश्चामरैरुपवीज्यमाना यथानिर्दिष्टा लक्ष्मीः)

राजा--(विलोक्य सानन्दम्) भगवति, कृतार्थोऽस्मि (इति पादयोः पतति)

लक्ष्मीः--उत्तिष्ठ वत्स, चन्द्रकलापरिग्रहेण प्रसन्नाहमिह ते साक्षात्कारं ददामि। तदभिमतमात्मनो वरं वृणीष्व।

मन्त्री—राजाधिराज, ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय इस सुलक्षणा के साथ आपके विवाह होने के कारण आनन्दित होती हुई त्रिभुवनसाम्राज्य-लक्ष्मी स्वयं यहाँ आ रही है। मदमत्त गजघटाओं के द्वारा कनक के कलशों के मुख से निरन्तर निकलनेवाली अमृतधाराओं से जिस पर अभिषेक किया जा रहा है, अपने हाथ में धारण किये गये कमल की परिमल से आकृष्ट होकर एकत्र भौंरों के समूह की गुंजन से जिसके चारों ओर का प्रदेश मुखरित हो रहा है, जिसके चरणों के नख भक्ति से प्रणाम करनेवाले सभी देवगण एवं असुरों के मुकुटजटित मणियों के विभिन्न रंगों की किरणों से रंगे हुए दिखलाई दे रहे हैं, जो भगवान् विष्णु के हृदय को आनन्द देने वाले समुदाय में कन्दली के समान मधुर (हो रही) है, जिसके नेत्र पूर्ण कमल दल के समान हैं और जो अपनी अनुकम्पा की कल्लोलों को आपकी ओर अभिमुख किये हुए स्वयं उसे प्रदान करने के लिए आ रही है।

(सुनकर सभी अपने स्थानों पर शीघ्रता से खड़े हो जाते हैं। तभी दोनों ओर चामरों से डुलवायी गयी लक्ष्मी प्रवेश करती है।)

राजा—(देखकर प्रसन्न होते हुए) भगवती, मैं आपके दर्शन से कृतार्थ हो गया हूँ। (वन्दन करने को पैरों पर गिरता है।)

लक्ष्मी—पुत्र, उठो। चन्द्रकला के साथ विवाह करने के कारण प्रसन्न होकर मैं तुम्हें यहाँ साक्षात् दर्शन दे रही हूँ। अब तुम अपना अभीष्ट वर मांगो।

राजा—(उत्थाय । साञ्जलिवद्धम्)

साक्षात्कारफलं तव प्रणिगदेत् को वा मुकुन्दप्रिये
मातर्येषु कृपामयो निपतति क्रीडाकटाक्षोऽपि ते ।
तेषामुन्मददिङ्मतङ्गजघटाघण्टारवाडम्बरै-
र्जायन्ते मुखरा क्षणेन भवनद्वाराङ्गणक्षोणयः ॥१२॥

तथापि किञ्चिद् ब्रवीमि ।

आचन्द्रतारकं मातर्मा विमुञ्च कुलं मम ।
भूयादविरतं भक्तिस्त्वयि मेऽव्यभिचारिणी ॥१३॥

लक्ष्मीः—एवमस्तु । किन्ते भूयः प्रियमुपहरामि ?

राजा—भगवति,

देवीमेवं गमिता प्रसादमासादिता प्राणसमा प्रिया मे ।
त्वमिन्दिरे मन्दिरसंश्रितासि प्रियं पुनर्मे किमतः परं स्यात् ॥१४॥

तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)

राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा
जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः ।

राजा—(उठकर हाथ जोड़कर) ओ विष्णुवल्लभे, आपके दर्शन के फल का वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है मातः, क्रीड़ा की दशा में भी आपकी दृष्टि जिस पर चली जाए उसके भवनों के आंगन तत्काल मदमत्त दिग्गजों की घटाओं की घण्टाध्वनियों की टंकार से सुरक्षित हो उठते हैं। फिर भी कुछ निवेदन करता हूँ ॥ १२ ॥

हे जननी, संसार में चन्द्र और तारों की सत्तापर्यन्त तुम मेरे कुल का परित्याग मत करो और मेरी आप में अस्खलित भक्ति बनी रहे ॥ १३ ॥

लक्ष्मी—तथास्तु । अब और मैं तुम्हारा कौन इष्ट कार्य पूर्ण करूँ ?

राजा—भगवती, इस प्रकार कहने से महारानी प्रसन्न हो गयी, प्राणों से प्रिय भार्या की उपलब्धि हुई और आप मेरे भवन में उपस्थित हो गयीं तो अब इससे अधिक प्रिय क्या होगा ॥ १४ ॥

फिर भी—

नृपतिगण प्रजा को सन्तति के समान देखते रहें, गुणग्राही एवं विवेकी

शस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु स्थिरा मण्डले
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥ १५ ॥

अत्र प्रसादगुणधामनि नीतिरम्ये
माधुर्यशालिनि निरस्तसमस्तदोषे ।
श्रीविश्वनाथकविवागमृतप्रवाहे
मज्जन्तु मत्सरमपास्य चिरस्य धीराः ॥१६॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

श्रीविश्वनाथकविराजप्रणीता
समाप्ता चेयं चन्द्रकलानाटिका ।

—:०:—

पुरुषों की उन्नति होती रहे, पृथ्वी धनधान्य से पूर्ण हो और सभी की अस्खलित भक्ति नारायण में बनी रहे ॥ १५ ॥

हे धीरजन, अपने मत्सरों को हटाकर आप विश्वनाथ कविराज की वाणी-रूपी अमृततरंगिणी के उस प्रवाह में चिरकाल तक अवगाहन कीजिये जिसमें प्रसादगुण विद्यमान है, नीतियुक्त अभिधान एवं रमणीयता से जो अलंकृत है तथा माधुर्य से सराबोर एवं समस्त दोषों से विरहित है ॥ १६ ॥

(सभी चले जाते हैं)

श्रीविश्वनाथकविराजविरचित चन्द्रकला-नाटिका सम्पूर्ण ।

—:०:—
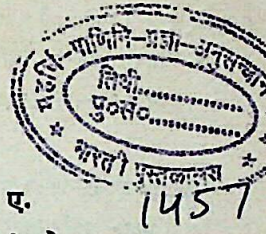
परिशिष्टम्

कपिलदेवगिरिः, साहित्याचार्य, एम. ए.
[शोधसहायकः, प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकाये
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य]

चन्द्रकलायां परीक्षोपयुक्तप्रश्नोत्तराणि-१९८०

१ प्रश्नः—किमपि एकं पद्यं स्फुटं व्याख्यायताम्—

(क) लाङ्गूलेनाभिहत्य''चञ्चुस्तरक्षुः ॥ (पृ० २८)

उत्तरम्—प्रसंगः—नेपथ्ये कलकलो भवति। सर्वे श्रृण्वन्ति पुनर्नेपथ्ये रे रे केलिवनरक्षकाः। पलायध्वं पलायध्वम्। इदानीं खलु—

कोपाविष्टः=क्रोधितः, (अत एव) अरुणोच्छूनचक्षुः=रक्तवर्णविस्फारितनेत्रः, अरुणे रक्तवर्णे उच्छूने=विस्फारिते, स्फीते वा नेत्रे यस्य सः। एषः=अयं, तरक्षुः=व्याघ्रः, 'लकड़बग्घा' इति नाम्ना लोके विश्रुतः। लाङ्गूलेन=स्वपूच्छेन, क्षितितलम्=पृथ्वीतलम्, भूमिमित्यर्थः। अभिहत्य=ताडयित्वा, अग्रपद्भ्यां=अग्रचरणाभ्याम्, असकृत्=मुहुर्मुहुः, वारंवारं वा, दारयन्=भूमितलमेव विदारयन्, आत्मन्येव अवलीय=संकुचितशरीरो भूत्वा, आत्मदेहं सङ्कोचयित्वा इति लघुभूत्वा। अथ=अनन्तरम्, विक्रमेण=शौर्येण, वीरोचितकर्मणा वा, द्रुतं=शीघ्रमेव, गगनम्=नभोमण्डलम्, प्रोत्पतन्=ऊर्ध्वं गच्छन्, उच्छलन्, स्फूर्जन्=प्रवर्धमानः, फुत्कारघोषः='घूंघूं' इति शब्दं कुर्वाणः, प्रतिदिशं—दिशं दिशं प्रति इति प्रतिदिशं=सर्वदिक्षु, अखिलान्=सकलान्, सम्पूर्णवनगतान्, जन्तून्=हरिणादिजीवान्, (मनसि) भावयन्=भयोत्पादयन्, प्रतिवनम्=वनात् वनं पति, एकस्माद् वनप्रदेशाद् अन्यवनप्रदेशमिति यावत्; प्रविष्टः=प्रविष्टवान्। अस्मिन् पद्ये स्वभावोक्तिरलङ्कारः, स्रग्धराछन्दश्च॥

प्रश्नः—(ख) पीतं कर्णपुटद्वयेन''केनापि नैवासवः॥ (पृ० ६५ श्लोकः २)

उत्तरम्—[प्रसंगः—अत्र निर्विण्णोराजा दीर्घमुच्छ्रस्य कथयति-] भृङ्गीनिनादाभिधं—भ्रमरीणां गुञ्जारवनामधेयं, लोके 'भिनभिनाना' इति नामकं गीतं; कर्णपुटद्वयेन=स्वकर्णाभ्यां, पीतं=श्रुतं, गीतरसपीतं वा, परन्तु तद् गरलं=विषतुल्यं जातम्, (मम) गात्रं=शरीरम्, प्रालेयांशुकरच्छलासु=चन्द्रकिरणरूपव्याजेपु, दहनज्वालासु=अग्निशिखासु, हुतम्=होमभूतम्, दग्धम्, अस्यामेवदसायां स्वयम्=आत्मनैव, भूयोभूयः=वारंवारम्, इति=एवं प्रकारेण विदहता=प्रज्वलता, मया राजाचित्ररथदेवेन, (अद्य) यामिनी=रात्रिः, निशा; नीता=व्यतीता, (तथापि) अश्मसारकठिनाः=वज्रवत् कठोराः असवः

(मम) प्राणाः, केनापि प्रकारेण कथं नैव निर्याताः=निर्गता, पार्थिवदेहाद् कथं न बहिर्भूता इति भावः ॥

२ प्रश्नः—नाटिकालक्षणानुसारं चन्द्रकलानाटिका परीक्ष्यताम् ।

अथवा

चन्द्रकलानाटिकाया नायकस्य नायिकाया वा चरित्रचित्रणं विधेयम् ।

प्रश्नः—नाटिकालक्षणानुसारं चन्द्रकलानाटिका परीक्ष्यताम् ।

उत्तरम्—प्रथमतः नाटिकालक्षणं विचार्यते—नाटिकालक्षणानुसारं नाटिकायां स्त्रीपात्राणामाधिक्यं भवति। तत्र चत्वारः अङ्काः, ललिताभिनयं च भवति । अत्र नायिका कामोपचारेण प्रसाधनेन श्रृङ्गारेण वा तथा क्रोधेन संयुक्ता भवति । तत्र दूत्या समावेशः समस्तघटित-घटनाश्च विशेषतः नायिकया सह सम्बद्ध्यते । नाट्यशास्त्रकारो धनञ्जयः नाटिकालक्षणं एवं करोति—

नाटिकायां ज्येष्ठा (प्रधाननायिका) प्रगल्भा भवति तथैव सा नृपवंशजा गम्भीरा मानिनी च । तद्वशात् नायकनायिकयोः समागमः अति कठिनतया सम्पद्यते नायिकाऽपि ज्येष्ठा इव राजकुलोत्पन्ना दिव्या, मुग्धा एवमतिमनोहरा भवति । नायकः देवी-त्रासेन शंकितो भवति । यथा दशरूपके—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगमः ॥
नायिकाताद्दशी मुग्धा दिव्याचातिमनोहरा ।

इतोऽधिकं तत्रैव द्रष्टव्यः ।

इत्यत्र स्वयं कविविश्वनाथोऽपि साहित्यदर्पणे (षष्ठपरिच्छेदे) नाटिकाया लक्षणमेवमुदाहरति—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीपात्रा चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥
पदे-पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात् कैशिकी स्वल्पविमर्शा सन्धयः पुनः ॥

(सा० षष्ठ; २८१)

उक्तलक्षणानुसारतः नाटिका सा रचना अस्ति यत्र नायकः धीरललितः नायिका च नवानुरागा (मुग्धा) भवेत्। नाटिका चतुरङ्किका स्त्रीपात्रवहुला च स्यात्। एषु स्त्रीपात्रेषु एका ज्येष्ठा नायिका अनिवार्या तथैव नृपवंशजा भवेत्। अस्यां नेता (नायकः) देव्याः त्रासेन शङ्कितो भवति। अत एव तद्वशः द्वयोः सङ्गमः ।

नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतस्तु नाटिकायां नृत्यं गायनं च संयोजयति तथैव राजोचितं स्वांगमपि निरूपयति। तत्र कैशिकी वृत्तिः स्यादित्यत्र धनञ्जयविश्व-

नाथयोर्मतैक्यम्। परन्तु आचार्यभरतः एतद्विषये मौनमस्ति। दशरूपककारेण (धनञ्जयेन) शृङ्गाररसप्रधाना नाटिका परिकल्प्यते।

चन्द्रकलासमीक्षा

नाट्यवेददीक्षागुरोर्विश्वनाथकविराजस्य इयं कृतिरस्ति अत एवात्र नाटकीयं समस्तलक्षणं समाविष्टम् कथावस्तु रत्नावली-स्वप्नवासवदत्ताप्रभृतिभिः प्रभावितं च। साहित्यदर्पणस्योदाहरणेषु अस्या नाटिकाया पद्यानि पदे-पदे उदाहृतानि। नाटिका चतुरङ्किका अस्ति। सप्त स्त्रीपात्राणि एवं अन्यपरिचारिकाः सन्ति। नायकः चित्रदेवनृपोऽस्ति तस्य प्रधानमहिषी 'वसन्तलेखा' अस्ति। तस्यैव माध्यमेन नायिका नायकयोर्नवानुराग अङ्कुरितो भवति ततः पुष्पितः फलितश्च भवति। नायिका नवोढा पाण्ड्यराजस्य द्वितीया कन्या 'चन्द्रकला' अस्ति वसन्तलेखाया भगिनी च। अत्र विप्रलम्भश्रृङ्गारस्य संयोजनं संघटनं नाट्यदृष्ट्या सफलमस्ति। कैशिकीवृत्तेः सम्यक् निर्वाहः। चन्द्रकलया सह चित्ररथदेवस्य परिणयमेव नाटिकाया पूर्णपरिणतिः। अतः 'चन्द्रकला-नाटिका' शृङ्गाररसप्रधाना अस्ति, अत्र कैशिकीवृत्तिः आवश्यकी तथा उपयुक्ता। अस्याः चतुर्णामङ्कानां संनियोजनं यथास्थानं तथा कथावस्तु मनोरमं साफल्यं च भजते। वैदर्भी-रीति-विभूषिता प्रसादगुणपूर्णा इयं नाटिका, नाटिकासमस्तलक्षणानुसारं सफलरचना अस्ति। विशेषतः भूमिकायां द्रष्टव्यम्।

अथवा

प्रश्नः—चन्द्रकलानाटिकाया नायकस्य नायिकाया वा चरित्रचित्रणं विधेयम्—

नायकस्य चरितम्

उत्तरम्—चन्द्रकला-नाटिकाया नायकः चित्ररथदेवः चन्द्रवंशी धीरललित अस्ति। साहित्यदर्पणानुसारेण अयं प्रख्यातो नृपः (प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः-सा० द० ६।२८१)। अयं प्रशस्तकुलोद्भवः शत्रुवर्गं पराभूय ससुखं राज्यं भुङ्क्ते। यथा-चोलकोशल-वंग-हावंग-कोच-काञ्ची-मत्स्य-म्लेच्छ-लाट-कर्णाटप्रभृतिनरेशाः स्वयमेव तस्य महाप्रतापे स्वशौर्यस्य एवं प्रतापस्य विलयनीचक्रुः। स धीरः गम्भीरः, विदुषां कवीनामाश्रयदाता सकलगुणरत्न-रत्नाकरः कलासक्तः प्रकृतिप्रेमी मृदुस्वभाव अस्ति। स त्रिकलिंगभूमण्डलस्य इन्द्र इव अर्थिकुलकल्पद्रुमः निःशङ्कदेवोऽस्ति। नायं उदयन इव संगीतकलाप्रयोक्ता तथा नहि दुष्यन्त इव चित्रकर्मनिपुणः किन्तु मनोरञ्जनस्य समग्रावसरेषु स्वात्मानं समर्प्य जीवनं यापयति। रसालकेन (विदुषकेन) सह मनोविनोदपूर्वकं समययापनं करोति।

अस्य प्रत्येककार्येषु व्यवहारेषु च कुलीनपुरुषस्य गाम्भीर्यं परिलक्ष्यते। चन्द्रकलायामनुरक्तोऽपि स्वजेष्ठा-पत्नीं वसन्तलेखां प्रति सम्मानेन स्नेहेन च व्यवहरति। चित्ररथदेवस्य गुणग्राहिताम् उदारभावं च विलोक्य तस्य सुबुद्धिनामकः मन्त्री स्वोद्गारमित्थं प्रकटयति—स देवाभिनन्दित इन्द्र इव विबुधाभिनन्दितः,

चन्द्र इव सकलकलानामाश्रयः, सूर्य इव परासहप्रतापः, शिव इव भूतिविभूषितः सन् विभाति। (द्रष्टव्य-हरिरिव-अंके ४, श्लोकः ८)।

इत्थं चन्द्रकलानाटिकाया नायकस्य चरित्रं सर्वतो मनोहरम् वर्तते। अत्र दक्षिणनायकस्य पूर्णतः निर्वाहः दरीदृश्यते। विशेषतः भूमिकायां २४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।

नायिकायाः चरित्रचित्रणम्

चन्द्रकलानाटिकाया नायिका 'चन्द्रकला' अस्ति। रत्नावलीनाटिका इव अस्या नाम्नोपरि, प्रस्तुतनाटिकाया नामकरणं भूतम्। साहित्यदर्पणानुसारेण इयं नृपवंशजा नवानुरागमण्डिता पाण्डेश्वरस्य द्वितीयाकन्या अस्ति। इयं सर्वगुणसम्पन्ना सुलक्षणा तथा वसन्तलेखायाः कनिष्ठा भगिनी अस्ति। 'चन्द्रकला' सर्वथा शास्त्रीयलक्षणेन विभूषिता नायिका अस्ति। कविराजविश्वनाथस्य वचनेन इयं 'निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मी' तथा 'लावण्यामृतपूरणमयी' अस्ति। अस्या रूपमाधुरीमवलोक्य जेष्ठा महिषी (वसन्तलेखा) सदैव आशंकिता आसीत् यत् कदाचित् क्वचित् महाराजचित्ररथदेवः एतस्यामनुरक्तो न भवेत्। अस्या प्रकृति अतिकोमला सांसारिकसुख-दुःखानुभवे असमर्था च। वियोगावसरे कालिदासस्य शकुन्तला इव अति विकलतामावहति। सा महालक्ष्मीस्वरूपा, लज्जावती, मृदुस्वभावा, यौवनमदविकारपूर्णा मुग्धा नायिका अस्ति। एवं भूतेन सहजगुणेन सा महाराजचित्ररथदेवस्य परिणीता प्रेमास्पदा द्वितीया नायिका भवति।

इत्थं चन्द्रकलानायिका प्रस्तुतनाटिकाया सर्वथानुरूपास्ति।

१९८१

१. अधोलिखितपद्ययोः किञ्चिदेकं सप्रसङ्गं व्याख्येयम्—

(क) लताकुञ्जं...... मकरन्दं दिशिदिशि ॥ (पृ० ४ श्लो० ३)

उत्तरम्—[प्रसङ्गः—अत्र सूत्रधारः वसन्तसमयं वर्णयन् मलयपवनमित्थं विशिनष्टि—लतेत्यादिभिः—]

गुञ्जन = मन्दं मन्दं गुञ्जारवं कुर्वन्, मदवद्लिपुञ्जं = सदोन्मत्तभ्रमरसमूहं (सम्पृक्तं), लताकुञ्जं = लतामण्डपं, चपलयन् = चञ्चलीकुर्वन्, इतस्ततः सञ्चालयन्, अङ्गं = कामुकशरीरं, समालिङ्गन् = संस्पर्शन्, अनङ्गं = कामदेवं, द्रुततरं = शीघ्रतरं, प्रबलयन् = सञ्चारयन्, कामभावं संवर्धयन्, दलितम् = विकसितम्, अरविन्दम् = कमलपुष्पमित्यर्थः, मन्दं मन्दं = शनैः शनैः, तरलयन् = विकम्पयन्, रजोवृन्दं = पुष्पपरागसमूहं, विन्दन् = अनुगृह्णन्, मरुत् = मलयपवनः, दिशि = प्रतिदिशं, सर्वदिक्षु वा; मकरन्दं = पुष्परसं, 'मधुवा' इति भोजपुरीभाषायाम्; किरति = विक्षिपति, सर्वत्र विस्तारयति। अस्मिन् पद्ये शिखरिणीच्छन्दोऽस्ति माधुर्यगुणश्च ॥

प्रश्नः (ख)—राजानः सूत........ नारायणे ॥ (पृ० ८२, श्लो० १६)

उत्तरम्—[प्रसङ्गः—राज्ञः उक्तिरियं भरतवाक्यरूपेण, राजानः इत्यादिभिः—]

अखिलाः = सम्पूर्णाः, सर्वे, राजानः = नरेशाः, नित्यं = सदैव, प्रजाः = प्रजावर्गान्, सूतनिर्विशेषं = स्वपुत्रमिव, पश्यन्तु = रक्षन्तु, भोजनवस्त्रादिभिः पोषयन्तु च। सदसद्विवेकपटवः = उचितानुचितविचारे पटवः = चतुराः, गुणग्राहकाः सन्तः (प्रजाः) जियासुः = अतिशयेन वर्तन्ताम्। स्थिरामण्डले = पृथिवीमण्डले, समधिकाः = प्रचुराः, शस्यस्वर्णसमृद्धयः = धान्यसुवर्णानां सम्यक् प्रकारेण वृद्धयः, सन्तु = स्युः, भवन्तु; त्रिजगतः = त्रिलोकनिवासिनः प्राणिनः, नारायणे = भगवति विष्णौ, अव्यभिचारिणी = विशुद्धा भक्तिः, अनन्यभक्तिश्च, भूयात् = भवेत्। अस्मिन् पद्ये शार्दूलविक्रीडितं छन्दोऽस्ति॥

२ प्रश्नः—चन्द्रकलानाटिकाकर्तुः वैशिष्ट्यपुरस्सरं परिचयं प्रस्तुवन्तु।

अथवा

चन्द्रकलायाश्चरित्रं चित्रयन्तु।

प्रश्नः—चन्द्रकलानाटिकाकर्तुः वैशिष्ट्यपुरस्सरं परिचयं प्रस्तुवन्तु।

विश्वनाथः (ई० १४ शताब्दी)

उत्तरम्—संस्कृतसाहित्येतिहासग्रन्थे कविराजविश्वनाथः विश्रुतः प्रथमतः कविहृदयसम्राट् तत्पश्चादालङ्कारिकोऽस्ति। तेन विरचितं 'साहित्यदर्पणं' साहित्यशास्त्रस्य सर्वमान्यो लक्षणग्रन्थः। अस्य रचनाशैली लोकानुरञ्जनी एवं सुबोधिनी अस्ति साहित्यदर्पणे अलङ्कारस्य सम्पूर्णो विषयोवर्णितः। अत्र काव्यनाट्ययोः प्रामाणिकी मीमांसा अस्ति। अस्य वैशिष्ट्यमस्ति यत् श्रव्यकाव्येन सह दृश्यकाव्यस्यापि विचारविमर्शो कृतोऽस्ति।

विश्वनाथस्य पितुर्नाम चन्द्रशेखर आसीत्। अस्य पितामहोपि महान् कविः तथैव तस्य महती विद्वन्मण्डली अपि आसीत्। अयं कलिङ्गराजस्य 'सन्धिविग्रहिकः' तथा कपिञ्जलवंशपरम्परातः 'महापात्र' आसीत्। अयम् उत्कल-(उड़ीसा-प्रदेश)-निवासी गौडब्राह्मणोऽऽसीत्।

साहित्यदर्पणे निम्नोक्तश्लोकः मिलति—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे पाणिनिग्रहः।
अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

अस्मिन् पद्ये उल्लिखितः 'अलावदीनः' प्रसिद्धः यवनसम्राट् 'अलाउद्दीन खिल्जी' आसीत् इति इतिहासविदां सम्मतम्। अस्य सुलतानस्य देहान्त ई० १३१६ वर्षे बभूव। अत एव कविराजविश्वनाथस्य समय ई० १३०० इत्यारभ्य १३५० मध्येऽस्ति[1]। (अस्मिन् विषये भूमिकापि द्रष्टव्या) अनेन साहित्यदर्पणातिरिक्ता अन्येऽपि बहुविधा ग्रन्था विरचिता यत्र इयं प्रस्तुता चन्द्रकलानाटिका अपि विलसति। नाटिकायाः प्रस्तावनायां कथावस्तुना विदितो भवति यत् अयं निःशंकभानुदेवस्य राज्याश्रितः आसीत्। अत्र विश्वनाथः आत्मानं 'चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गः' महाकविः उद्घोषयति तथैव गजपतिसाम्राज्यसन्धिविग्रहिकोऽपि आसीत्।

---

१. द्रष्टव्य : संस्कृतसाहित्येतिहासः—चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी।

साहित्यदर्पणस्य लोचनव्याख्यायां निर्दिष्टं यत् अयं अशेषभाषारमणीभुजङ्गः प्रौढधियां पुरोगः साहित्यविद्यार्णवकर्णधारः विश्वनाथः कविचक्रवर्ती आसीत्। चन्द्रकलाया बहूनि पद्यानि साहित्यदर्पणे उद्धृतानि सन्ति। अतः अयं कविराज-विश्वनाथः अलङ्कारशास्त्रस्य नाट्यशास्त्रस्य च महानाचार्यः आसीत्।

शास्त्रिपरीक्षा सन् १९८२

१ अधोलिखितपद्ययोः किञ्चिदेकं सप्रसङ्गं व्याख्येयम्—

(क) आसावन्तः......सुमुखि ते ॥

(ख) पीतं कर्णपुट......नैवासवः ॥

'ख' प्रश्नस्योत्तरं १९८० प्रश्नोत्तरखण्डे द्रष्टव्यम्।

(क) आसावन्तः......सुमुखि ! ते ॥ (पृ० १७ श्लो० १७)

उत्तरम्—[प्रसङ्गः—राज्ञः उक्तिरियं-चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य-]

हे सुमुखि !=शुभानने, सुन्दरवदने ! विगलितकलङ्कः=सर्वतोभावेन दोषरहितः, लाञ्छन-शून्यः लोकोत्तरः असौ चन्द्रः=मुखचन्द्रः, कुतः=कस्माद् स्थानात्, प्राप्तः= लब्धः (त्वयेति शेषः), अन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगलः—अन्तः = मध्यभागे, चञ्चद् = विलसत्, विकचं = विकसितं, नवं = नवीनं नीलाब्जयुगलं = श्याम-कमलद्वयमिव नेत्रद्वयं यत्र एवंभूतः मुखरूपचन्द्रः। तलस्फुर्जत्कम्बुः—तले= अधोभागे, स्फूर्जन् = शोभायमानः, कम्बुः = गलस्वरूपः, शङ्खः यस्य एवंभूतः (मुखरूपचन्द्रः); उपरि = ऊर्ध्वभागे, विलसदलिसंघातः—विलसन्=कामक्रीडा-सम्पादयन्, मनोविनोदं कुर्वन्, अलिसंघातो = भ्रमरसमूहः, (नायिकापक्षे—केश-समूहः कमलनेत्रोपरि) यस्य एतादृशः (मुखचन्द्रः), सततपरिपूर्णाखिलकलः— सततं = निरन्तरं, परिपूर्णा पूर्णतांगता, अखिला = समस्ता कला = षोडशकला (चन्द्रकलापक्षे-षोडशवर्षीया, पूर्णयौवना,) यस्य एवंरूपः, दोषासङ्गं—दोषा = रात्रिः तस्या सङ्गं = सम्पर्कं विना, (नायिकापक्षे—पापरहितम्) अर्थात् दिवा समय एव चन्द्रः—मुखरूपचन्द्र उदितो यातः अतएव त्वया हस्तगत। अत्र चन्द्रकलाया मुखोपरि चन्द्रस्य आरोपो वर्तते तथा शिखरिणीच्छन्दः॥ अत्र कविः चन्द्रकलायाः मुखसादृश्यं निष्कलङ्केन चन्द्रेण सह करोति, नेत्रयोः नीलकमलेन सह, गीवायाः शंखेन सह, तथैव केशराशीनां नेत्रकमलोपरि विलुंठनानि भ्रमर-पङ्क्तिभिः सह घटयति।

२ प्रश्नः—नाटिकालक्षणं प्रस्तूय तदनुसारं चन्द्रकलानाटिका परीक्ष्यताम्।

अथवा

चन्द्रकलानाटिकाया नायकस्य चरित्रचित्रणं विधेयम्।

उपर्युक्तप्रश्नोत्तरमपि परिशिष्टभागे १९८० प्रश्नोत्तरखण्डे निभालनीयम्।

नवीन प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्

१ श्रीमद्भगवद्गीता (गीता) मधुसूदन सरस्वती कृत
सनातन देव कृत हिन्दी टीका (१९८२) राज
कार्ड

२ नामलिङ्गानुशासनम् नाम अमरकोशः (कोश)
भानुजी दीक्षित (रामाश्रय) कृत 'रामाश्रमी' (
टीका तथा हरगोविन्दशास्त्री कृत 'मणिप्रभा' (प्रका
राज संस्करण २५०-०० कार्ड

३ काव्यप्रदीपः । म० म० श्रीगोविन्दप्रणीतः । वै
पं० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पण
(१९८२)

४ वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः । स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि विरचित ।
(१९८२) १५०-००

५ हरविजयम् । राजानक रत्नाकर विरचित । राजानक अलक कृत
टीका सहित । पं० दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब
(१९८२) १००-००

६ चम्पूरामायण । राजाभोज कृत १-५ खण्ड तक, लक्ष्मणसूरि कृत
छठवाँ खण्ड । रामचन्द्रबुधेन्द्र कृत टीका । वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री
पणशीकर सम्पादित । (१९८२) ४०-००

७ भामिनीविलासः (काव्य) जगन्नाथ कृत । राधेश्याम मिश्र कृत
'प्रकाश' हिन्दी टीका । अन्योक्ति विलास-प्रस्ताविक विलास २५-००
संपूर्ण ६०-००

८ कामसूत्र (कामशास्त्र) । वात्स्यायन मुनि कृत । यशोधर कृत
'जयमङ्गला' संस्कृत । देवदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीकादि (१९८२) १५०-००

९ नारदसंहिता (ज्योतिष) । नारद महामुनि कृत । सान्वय, विमला
हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार-राम जन्म मिश्र (१९८२) ६०-००

१० नाट्यशास्त्रम् (नाट्य) । भरतमुनि कृत । सं० बटुकनाथ शर्मा एवं
बलदेव उपाध्याय संशोधित (१९८२) सम्पूर्ण १००-००

११ योगसूत्रम् । (योग) पतञ्जलि कृत । भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड'-
भावागणेश कृत 'प्रदीपिका'-नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति'-ब्रह्मानन्द यति
कृत-'मणिप्रभा' अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती
कृत 'योग सुधाकर' छः टीका । विस्तृत हिन्दी भूमिका डा० महाप्रभुलाल
गोस्वामी (१९८२) ५०-००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो० बा० ११३९ वाराणसी-१